

समर्पण

जिनके		जिनकी
असीम		वसति
अनुग्रह	एवं	प्रेरणा
का		से
घर-दहसूत		असर-सान
मेरे सिर पर रहा		प्राप्त कर सका

उन

पितामह गुरुदेव अक्षय प्रवर्तक पं० श्री शुक्लचन्द्र जी महा०
के कर-कमलों में

समर्पित

समर्पित.....

‘शुभन-मुनि’

जी

आत्म-स्वरूप, कर्तव्य एवं

धर्मानुगुण से अनामिज है

तथा पर-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर

फर को उनके मार्ग पर स्थित

करने को ही माना निम्ना है।

उन

पराधी आत्माओं के पर-स्वरूप

ज्ञान के लिए.....

क्या कहें? जो कहें, उसे, जो कहें, उसे कहें की सत्यता

मान्यता के लिए, आत्मा की सत्यता

संस्था की ओर से

प्रसुत "आवक कर्त्तव्य" नामक पुस्तक का प्रकाशन पाठकों के कर-बमलों में समर्पित है। यह पुस्तक आवक के आचार का दिग्दर्शन कराने में उपयोगी सिद्ध होगी तथा एहस्य अपने एही-जीवन को सुन्दर बनाता हुआ अन्धकारम हटित की ओर प्रवृत्त हो सके एवं उसी रूप में (आवक) अपना जीवन व्यतीत करे ऐसी प्रेरणा इस पुस्तक से प्राप्त करेगा तो हम अपना पुरोपाय सफल मानेंगे।

पुस्तक में जैन धर्म में रही आवक (एहस्य) जीवन सम्बन्धी सभी प्रकार की मान्यताएँ और आचारका सक्षिप्त पर सर्वाङ्गीण विवेचन है। स्या० जैन-समाज में इस प्रकार की पुस्तक का अभाव प्रतीत होता था कि जिसके माध्यम से आवक धर्म, एहस्य धर्म का सामान्य तथा सर्वाङ्गीण ज्ञान हो सके।

इससे १०० प्रति प्रकाशन का व्यय श्री धन्नामल जी गभीरमल जी बम टोक निवासी ने श्रीमती चन्द्रादेवी धर्मपत्नी गभीरमल जी के अर्पण तृतीया के बाविक तप के उपलक्ष में किया है अतः उनकी संस्था धामारी है।

इसका लेखन श्री प० महेन्द्र कुमार जी महाराज के शिष्य श्री सुमन मुनि जी म० ने किया है। उनके इस सन्तुष्टार्थ के लिए हम धामारी हैं।

मुनीश्वर जैन
मंत्री, पूज्य श्री बासीराम-स्मृति अन्वमाता
धामाला नगर

पुस्तक परचिय

प्रस्तुत संपुकाय पुस्तक छात्र पूर्ण होकर पाठकों के कर-बमलों में आ गयी है।

प्रेरणा :

पुनर्जन्म—लेखन की प्रेरणा छात्र का सामाजिक वातावरण है। जहाँ निमित्तकार, भगटाकार का नारा उठा कर अपने मन के उन विचारों को पूर्ण करने का प्रयत्न बना लिया जाता है जो व्यक्तिगत, दलगत, स्वार्थ धर्मनस्य तथा प्रक्षिप्ता प्राप्ति के रूप हैं। धमलों के साथ-साथ आवश्यक-मुक्त और उनकी लेखनी सभी-सभी अपनी मर्यादित गति को भी तार कर जाती है। माना, समाज के धमल वर्ग में धरेलाहृत संभाव्य घाना है किन्तु वह सब किस युग में नहीं था। धर्म और परिणामों के नाश्वर्य को स्वीकार करने तो उसमें विचार, उच्चार और व्याख्यान भी अन्तर्गत मानना होगा। निमित्तकार की परिभाषा क्या है। उसकी मूल स्थिति बंसी होनी है इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में सभी व्यक्ति एक परम्परा, गीति जो पहले नहीं थी और आज बन गयी है और उसमें मूल गुण और साधना को कोई धाँव नहीं है फिर भी उसे निमित्त व्यापार की कोटि में रखा दिया जाना है। यदि व्यापार निमित्त है और धमल वर्ग मर्यादा रहित होने जा रहे हैं तो उन्हें पुन समय दृढ़ करने तथा उनके व्यापार को निर्दोष बनाने का यह कोई उपाय भी नहीं है। फिर व्यापार्य है कि धमल वर्ग पर अगुनी और उठती उन व्यक्तियों की धारिण है जो व्यावहारिक से परे, धमल व्यापार रहते विचार से अन्तर्गत हैं। वे एक प्रकार का असाधुता का प्रमाण वह सा और निर्णय देते रहते हैं।

आलोचना तथापि कुछ और मन से हो तथा तत्कालीन ज्ञान भी तथा उनकी पद्धति, वातावरण का रूप भी ज्ञान होना चाहिए। ऐसी आलोचना ही जीवन को प्रभावित करती है। व्यक्ति अपनी भूल को सुधारने का उपक्रम भी करता है आध्यात्मिक जीवन में निमित्त, आभाषण, आदि के निमित्त ज्ञान के साथ तत्कालीन अज्ञा और व्यापार की धारिण आशा है। आरम्भ में

२०. भारत का भाषा-विवेक
२१. विश्वाम चार
२२. बाह्य प्र
२३. छद्म आवरणक
२४. भारत का प्रथम प्रथिना
२५. भारत सरकार
२६. भारत द्वारा निम्नतीय
२७. भारत सरकार
२८. भारत
२९. भारत

परिशिष्ट

१. भारत सरकार
२. भारत सरकार
३. भारत सरकार
४. भारत सरकार
५. भारत सरकार
६. भारत सरकार
७. भारत सरकार
८. भारत सरकार
९. भारत सरकार
१०. भारत सरकार
११. भारत सरकार
१२. भारत सरकार
१३. भारत सरकार
१४. भारत सरकार
१५. भारत सरकार
१६. भारत सरकार
१७. भारत सरकार
१८. भारत सरकार
१९. भारत सरकार
२०. भारत सरकार

आवृत्त-कृत्य

(संक्षेप में)

- १ मगनाचरण
२. इन्द्रायपमं सामान्य दृष्टि मे
३. आवृत्त घर्म . एक दृष्टि

मंगलाचरणा

नमस्कार-सूत्र

नमो हरिहंताय

नमो मित्राय

नमो धारयिष्याय

नमो स्वर्गमायाय

नमो लोके मय्य सादृण

एवो पक्ष एवमुक्तारो, सय्य पावप्रणामणो ।
मंगलाय न सख्येति, पश्य ह्यहं मंगल ॥

अर्थ—हरिहंता को मेरा नमस्कार हो, मित्रों को मेरा नमस्कार हो, धारक को मेरा नमस्कार हो, स्वर्गमाया को मेरा नमस्कार हो, तथा लोक में रहे सब साधुओं को मेरा नमस्कार हो ।

यह पाँचों को बिना गया नमस्कार सर्व प्रकार के पापों का नाशक है, सब मंगलों में प्रथम मंगल है ।

हरिहंत हरि + शत्रु, हन् + मारण बर्मेण भाव शत्रु को मारने, नाश करने वाले पुरुष । मोह आदि अटारह दोष रहित, अनन्त ज्ञान, अनन्त दान, अनन्त सुख एवं अनन्त कीर्ति रहित, इन्द्र-जैत्र द्वारा वृद्धि आराध्यदेव, देवाधिदेव हरिहन्त है ।

तिष्ठ : स्वाम्योपलब्धि रूप तिष्ठि की दिग्दे प्राप्ति हो गयी है वे तिष्ठ है । अथवा आठों बमों से रहित, आठ दुःख रहित, परित्यागकारी और मोक्ष-तिष्ठन्ति में विराजित जीव तिष्ठ कहलाते हैं । सुख कीर्ति, परमात्मा ।

गृहस्थ धर्म :

मनुष्यः—जपतीतल पर दो
 मनुष्य और पशु-भी, इसमें भी मनुष्य
 मरेगा, मंजो, बुद्धि तथा ज्ञान एवं
 का उपा उसको प्राप्ति का श्रेय भी
 का मायात्मिक दृष्टिकोण से भी
 है मृष्टि का तथा जो अमूल्य होता है १
 मनुष्य में मनुष्य ही सब से अल्प है अ
 जसका धर्मः—मनुष्य में जीवन
 की मरणात्मा देखी जाती है, उन
 १ पशु है—मनुष्योचित, मानव वृत्ति
 का मनुष्य में। पशुता मानी मानवता
 का मनुष्य और पर गुरु है। मान
 के मनुष्य को अपने स्वभाव के
 १ धर्म है, उसके विपरीत
 १ मनुष्य—यदि मनुष्य ज्ञान यु
 १ मनुष्य निरंशिवी प्राणी की हि
 १ मनुष्य है मनुष्य नहीं। १ इस
 १ मनुष्य धर्म मनुष्य है (८
 १ मनुष्य
 १ मनुष्य धर्म मनुष्य प्रधानम्
 १ मनुष्य मनुष्य काटं ज
 १ मनुष्य मनुष्य इच्छन्ति जी

गृहस्थ धर्म : सामान्य दृष्टि में

मनुष्य—जगतोत्पत्ति पर दो जीवन प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होते हैं—
मनुष्य और पशु-पक्षी, इसमें भी मनुष्य की अधिक महत्ता है इसलिये कि उसमें
संवेदना, मज्जा, बुद्धि तथा ज्ञान एक कर्म की संगति है। प्रसस्त कार्यसाधना
का तथा उसकी प्राप्ति का ध्येय भी मनुष्य को ही है। पारिरीक एवं मानसिक
तथा धार्मिक दृष्टिकोण ने भी मनुष्य एक अनुपम प्राणी है समूह्य मन
है मृष्टि का तथा जो समूह्य होता है वह क्षण ही होता है। अतएव ध्यात्म-
प्रवचन में मनुष्य ही सब से बल है और उसकी प्राप्ति भी स्वल्प। *

उमका धर्म—मनुष्य में जीवन व्यतीत करने के लिये अनेक ढंग
और प्रणालियाँ देखी जाती हैं, उन सबका दो रूप में विभाजन किया जा
सकता है— मनुष्योक्ति, मानव कृति के अनुसार तथा इसमें भिन्न-भिन्न दानव
आदि रूप में। परन्तु यानी मानवता जो कि उसका निज स्वभाव है और
दूसरा विभाव और पर गुरु है। मानवता का यही ध्येय है कि वह मनुष्य
अपने जीवन को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्यतीत करे। स्वभाव ही
उमका धर्म है, उसके विपरीत आचरण ही अपमं है। क्योंकि भगवान्
महावीर ने कहा—“यदि मनुष्य ज्ञान मुक्त है तो उसके ज्ञान का यही सार है
कि वह अपने लिये किसी प्राणी की हानि न करे क्योंकि सभी जीव जीवित
रहना चाहते हैं मरना नहीं।” † इस आधार पर व्यक्ति मुक्त पूर्वक जीवित रहना

* मनुष्य जन्म मृत्युह (उत्तराध्यायन) “नहि मानुगान् हि किञ्चि
धेष्टव्यम्” [महाभारत]

अथेनु मानुष्य मय प्रपानम् [आचार्य अमित्राक्षर]
† एवं तु नाण्यिहो सारं न हिर्न किञ्चन [गृह्यसूत्र १]
सर्वे जीवा विद्वन्ति जीवितं न मर्त्यम् [सर्वज्ञानिक १]

जाती है। बिना उनके उसका जीवन ढग में ध्वसीत नहीं हो सकता। जानियों ने यह ठीक ही कहा है कि ये प्राणार हैं किन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—[१] उन जड़-चेतन प्राणार होते हुए भी साधन हैं, साध्य नहीं, साध्य तो जीवन ही है। [२] वाक्य और प्रकाश, जड़ और चेतन का विवेक पूर्ण प्रयोग हो। स्वच्छन्द रूप से नहीं।

“मैं मनुष्य हूँ, चेतन हूँ जड़ नहीं इसी भाँति ये मेरे साधन या सहयोगी जो कि चेतन हैं उनमें भी संवेदन शक्ति (Feeling power) है, मेरी तरह वे भी मूल-मूल का अनुभव करते हैं घट मेरा कर्तव्य है अपनी कृति का संकोच करते हुए आवश्यक, अनिवार्य के लिए ही का उपयोग करना” धर्मशास्त्र नहीं बूँदें इनके बिना मेरा निर्वाह नहीं है” इस स्वानुमति से प्रत्येक कृति से जीवन निर्वाह करना अर्थात् स्वयं के साथ पर-दूसरे को जीवन देना दृश्य का कर्तव्य है।

दूसरे, जड़—निर्जीवपदार्थ-वस्तुओं के प्रयोग एवं उपयोग के लिए ही मन में विवेक अनिवार्य है धर्मशास्त्र मूल रूढ़ि नहीं जल की तरह मन में इच्छाएँ उत्पन्न बिखर जाएगी और उन्हें विमोचने और पूर्ण करने निचे दत्तक बटिनाई और बट्ट उठाना पड़ता है घट, जड़ साधनों के ही मन को निर्मुक्त न होने देना दृश्य का कर्तव्य है। मन के तमो को (Emotion) दूर करना है किन्तु उन्हें जो प्रकाश है, स्वाभाविक और अनिवार्य है, नहीं तो वे पूर्ण ही नहीं होंगे? इसलिये दृश्य में रहा पति दृश्य के दायित्व का परिपालन, अपनी तथा दूसरे की वस्तु का रक्षण-संरक्षण तो करे पर मनुष्य रहकर ही पशुवृत्तिवाला या राजा बन नहीं बन सकता जो मनुष्य पतिवार, पढ़ाई, समाज तथा प्राणीवर्ग उन्माद न करता हुआ अपने साथ उनका भी दयासम्भव दायित्व सम्बन्धित करता है वह मनुष्य है।

मनुष्य के शिवा-बहाराओं के प्राणार पर ही दृश्य-सदृश्य की भाँति है। दृश्य अपने अपने माहुरूप की मानवता शुद्ध करने स्वभाव

है:—सामान्य और विशेष । सामान्य मार्गानुसारी और विशेष भावक । भावक की दृष्टि सम्पूर्ण और निरन्तर और वह तत्त्वज्ञ होना है तो मार्गानुसारी होना भी है और नहीं भी । यही कारण है कि ये सामान्यधर्म बड़े गये हैं । इनमें व्यापारित्वता कम और व्यवहारित्वता अधिक होती है । मार्गानुसारी से भावक का स्तर ऊँचा होता है ।

पैंतीस मुण्डा:—यों तो ये नियम परिस्थिति की परीक्षा करने के होते हैं:—र वहाँ पैंतीस का विधान है—जो मार्गानुसारी के बोल कहनाते हैं—न्याय सम्पूर्ण विभव—न्याय पूर्ण धन का धर्म करना चाहिए । धन के गृहस्थ का निर्वाह कठिन है, धनाभाव धर्म का भी वाधक है जो निम्न मीति से कहा गया है—धनादधर्मं तत् सुखम् । एष लोकोक्ति भी प्रचलित है—“साधु के पास कोई तो साधु कोई था, गृहस्थी के पास कोई नहीं तो गृहस्थी कोई का ।” धनएव धनोत्पन्न गृहस्थ के लिये अनिवार्य धर्म है तथापि उसके धर्म में अनुचित का विवेक आवश्यक है । अनुचित साधन और क्रिया से धन—सम्पद अर्थात् धन धन्यापोत्पन्न धन कहें, धर्मवत्तया, हिता धादि पाप ध धनधर्म का मुक्त है । इतना—परलोभ से दृष्टिकारी होता है । ऐसा धन स्वामी की बुद्धि को मलिन, व्यवहार को दूषित एव मूलधन को भी नष्ट कर देता है ।

अनुचित साधन हैं:—चरोहर को दबा लेना, रिक्काज लेना, स्वार्थ धर्म हो हानि पहुँचाना, बिदायपाज करना, स्वामिशो, समाज-शो, मित्र-शो, देश-देश बरके धन प्राप्त करना । राज-धर्म, शोरी, सन्ति-विद्वन्, धुलित एव कोरावकार धन ध्यापार तथा धर्म ध्याय से धन कमाना धादि ।

(२) दिष्टाचार धर्मोत्पन्न:—दिष्ट—उच्च पुरुषों का धारण दिष्टाचार है, उसका पालन एव उसे सुन्दर करना । निरा न करना । इन

१ तब व गृहस्थ धर्मोत्पत्ति द्विविध: सामान्यतो विद्वेषधर्म ।

[धर्म किन्तु० ध० १ म० २]

प्रत्येक वर्ग : सामान्य दृष्टि]

(६)

[श्रावक-क

होना, दुगुणी पुरुषों की प्रशंसा करना, विचार न करना, भावति में न पबरत
होनापर का पालन करना, मिष्ट-आहार सूचक सब्जों का उच्चारण आदि ।

(२) समान कुल-शील श्रम्य गोत्रीय विवाह करणः— इससे
की व्यवस्था, कुलीनता, आचार सुद्धि, देव, अतिथि तथा वन्दुगनों का सत्कार
गुरुति रहता है । विवाह का रिवाज ने जोष्ट और कनिष्ठ का स
का रहता है । विवाह का प्रतिकार काम जनित वामना को सीमित करने
की व्यवस्था प्रामि है । पत्नी तथा के चार उपाय हैं :—उमें कार्यरत रस
निरतिन रस देना, अतिथि स्वागत न देना तथा सराचारिणी नारी के
सर्वार्थ में रक्षणा ।

(३) पाप-भोक्त— पाप में डूबे रहता आदि, सर्वार्थ भूषा, मां
धन्यता, प्रतिभाता, शोच, वन्दनयता, पालनी समन आदि का, दिया श्रम
कल्याण की पुण्यता का न करना ।

(४) प्रमिष्ट देना पापन — दण के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा
होना होता है । इसका व्यवहार ही मया है यह प्रमिष्ट देना पाप
के दण्डन का एक ही प्रकार का कार्य है । विशेष, अतमान आदि
मनोवशात् पापन के प्रमिष्ट ही मरते ।

अकर्तव्यता दण्ड — दण्ड के दण्ड अकर्तव्यता का व्यवधान
होना होता है । इसका व्यवहार ही मया है यह प्रमिष्ट देना पाप
के दण्डन का एक ही प्रकार का कार्य है । विशेष, अतमान आदि
मनोवशात् पापन के प्रमिष्ट ही मरते ।

अकर्तव्यता दण्ड — दण्ड के दण्ड अकर्तव्यता का व्यवधान
होना होता है । इसका व्यवहार ही मया है यह प्रमिष्ट देना पाप
के दण्डन का एक ही प्रकार का कार्य है । विशेष, अतमान आदि
मनोवशात् पापन के प्रमिष्ट ही मरते ।

अकर्तव्यता दण्ड — दण्ड के दण्ड अकर्तव्यता का व्यवधान
होना होता है । इसका व्यवहार ही मया है यह प्रमिष्ट देना पाप
के दण्डन का एक ही प्रकार का कार्य है । विशेष, अतमान आदि
मनोवशात् पापन के प्रमिष्ट ही मरते ।

अकर्तव्यता दण्ड — दण्ड के दण्ड अकर्तव्यता का व्यवधान
होना होता है । इसका व्यवहार ही मया है यह प्रमिष्ट देना पाप
के दण्डन का एक ही प्रकार का कार्य है । विशेष, अतमान आदि
मनोवशात् पापन के प्रमिष्ट ही मरते ।

वितरित निच कार्यकारी-दुराकारी, ध्यसनी, विस्वासपाती पुरवों की संगति जीवन को नष्ट करने वाली होती है ।

(६) मातृ-पितृ-सेवा:— माता-पिता एवं वृद्ध भुक्त्रों की सेवा प्रति करनी चाहिए । इनके ऋण प्रथवा उपहार से उच्छ्रय होना प्रति बलित है । सेवा है—उन्हे प्रमाण करना, आज्ञा स्वीकार करना, धर्म में समाना, उपकरण की सुविधाएँ देना

(१०) स-उपद्रव वर्जित वर्जन — उपद्रव वाली बसती की छोड़ देना चाहिए क्योंकि वहाँ रहने से धर्म और काम की हानि होती है, अमानि और बलह बना रहता है । उपद्रव ये हैं—स्वयच्छ-राजादि अपिकारी का अत्याचारी हो जाना परचक्र-दूतरे राजादि का बसति पर आक्रमण, मूढ-सलोट आदि, दुष्काल, महामारी इति विरोध हो जाना आदि ।

११. गहित कार्य अमरुति— निच या पूणित कार्य व्यापारों को नहीं करना चाहिए ये दृष्टास्य, दुष्क, जानि देत तथा धार्मिक दृष्टिकोण से हैं । इनसे आचारण से व्यक्ति द्वारा अमरुति कार्य-धर्म भी उपद्रव के विषय बन जाते हैं । कहावत भी है—आगे काम उसी को साजे, और करे तो लाटा बाजे ।”

१२ धायानुसार ध्यय:— रहस्य को अपनी धाय के अनुसार ही ध्यय (धर्म) करना चाहिए धाय के बम होने पर आवश्यकताएँ भी बम कर देनी चाहिए ध्ययका बंधमण की भाँति जीवन बिटाने वाला कोई समय के बाद ही ध्यय-करीर होता ही निस्तोदी देता है ।

मूकत धाय—उपाधित धन के बार भाग होने चाहिए एक भाग रिकय के निचे, दूसरा ध्ययार से, तीसरा धार्मिक जनों के ध्यय-नोपण, दान आदि के निचे और चौथे से धार । मोहन का मुक्तमय निरीह । बिदेव, ध्यदि अपनी प्रतिदिनि पर स्वयं विचार दीन रहे ।

। तथा भूख न होने पर भोजन करना हानिकारक है। प्रसमय में भोजन करने से भूख के समय भोजन न करने में जठराग्नि मंद हो जाती है।

१८. अबाधित त्रिवर्ग साधन—धर्म, धर्म और काम की त्रिवर्ग साधना है। दृष्टय धरने जीवन में इन तीनों का अबाधित रूप स्थिर करे धर्मात् धर्म-त्रिवर्ग में प्रमाद नहीं चाहिए, धर्म-धन धर्मन धारक है ही और काम के लेखन में मर्मांश रखे। केवल बानी रहा तो धर्म और धन का सर्वनाश, धनार्जन में रहा तो धर्म का अभाव हो जायगा और काम के अभाव में ग्राह्य और केवल धर्म-रक्षि में ही रहा तो दृढ-मन उपस्थित होगा प्रत्यक्ष तीनों का अबाधित रूप जीवन में घना चाहिए। तथापि धर्म की प्रथमता, धर्म में विवेक और काम में मर्मांश अनिवार्य है।

१९. अति-सत्कार — पर में धार्य ध्यान्तु-साधु, दीन तथा पिता इष्टु-का यथाशक्ति आदर होना चाहिए। साधु की उसकी वृत्ति, मान-हीन की उसकी आदर्यतानुसार अर्पण देना ही उनका आदर है, शरदार है। क्योंकि दृष्टय ही उनका आधार है।

२०. गुणवत्तापात — व्यक्ति को गुण का पक्षपाती होना चाहिए केवल दमकती या शरीर आदि का ही नहीं। गुण से गौरव सम्बन्धता, उदारता, सरलता, प्रिय भाषण, धर्म, दाना परावहार, मैत्री आदि से है तथा ऐसी—(गुणी पुरुषों) की प्रशंसा । उनका सहयोग देना ही पक्षपात है। इसके दो साम हैं—गुण्य धर्म का उपादन, गुणा की प्रति।

२१. अनभिनिवेशपुच्छः—ध + नही, अनभिनिवेश + दृढ, विद्व आदि न होना। दूसरे को मीमा दिताने के लिये मीमा विरुद्ध कार्य करना अभि-प्राप्त है। इसमें ईर्ष्या, दृढ तथा द्वेष जैसे दुर्भावों का सम्मिश्रण है अतः दृष्टय नहीं करता है।

२६. लोक चालभता — विलम्बता, स्नेह आदि गुणों के कारण उत्पन्न होने वाली लोभविषया ही लोकचालभता है। जीवन में यह प्रतिष्ठा की ओतक है।

२७. सलज्ज — धर्म वाला होना, बुगई में मन का एकेश भाव सज्ज है। इसके बुगई से बचने में धर्म सहायता मिलती है।

२८. सदयः — प्राणी मान के धर्म दयावान रहना सदयता है। यह मानवता है।

२९. सोम्यः — घात कृति बाणा, स्वभाव में क्रूरता का न होना सोम्यता है। क्रूरता दूसरों में उद्वेग, भय, घृणा तो सोम्यता स्नेह संपादन करती है।

३०. परोपकार धर्म — गृहस्थ को पर-दूसरे का, उपकार-मला देने वाला होना चाहिए। परोपकार पुण्य है। सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में इसी ध्येक्षा रहनी है। दयाभाव सहयोग और सेवा के लिए औपचारिक, अनाचारिक, निराश्रय सत्पार्थ, पशु-पक्षी मत्स्य आदि परोपकार है। ऐहिक और पारलौकिक दोनों जन्मों का हितैषी है परोपकार।

३१. अन्तरंग दायदताः — दातृ का धर्म है उपकार-बुग करके वाला, यह दो प्रकार के हैं। बाह्य और आन्तरिक। बाह्य दातृ पक्षी, पशु, मनुष्य आदि तो अन्तरंग आत्म-विकास है। य भी धनक प्रकार के हैं किन्तु मुख्यतः यह है — धर्म, कोष, लोभ मान, पर और धर्म। गृहस्थ इनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता किन्तु इनके अनुचित प्रयोग, मर्यादातिरेक प्रयोग से हानि होती है धन, मर्यादा पूर्वक रहते हुए दूर करने का आश्रय करना चाहिए। जिसने धन में से दूर का धर्म होये धन, धान्ति उत्पत्ती ही बढ़ती है।

३२. इन्द्रिय धर्मः — गृहस्थ को इन्द्रिय-संयम रखना चाहिए। साधु १ धर्म इन्द्रिय विषय तो गृहस्थ के लिए कठिन है किन्तु उन्हें स्वच्छन्द तथा

५—विषयासक्त न रहना :— वाक्, शब्द, रस, रूप और स्पर्श, ये सब इन्द्रिय धर्म हैं, ये ही विषय और काम-मोग कहलाते हैं । धावक को निमित्त—विषय विशेष में मन को घामक नहीं रखना चाहिये । इसमें कर्म रम्य, ऐहिक हानियाँ—अपमान धनराश, शरीर क्षय आदि होने की सम्भावना रहती है ।

६—प्रतिपि संविभाग, मुपात्रदान :—धावक का वर्तव्य है कि वह भोजन करते समय दो मिनट तक कर साधु-धर्म के ध्यायन की प्रतीक्षा करे और उनके भोजन में से उसकी कृपानुसार देवे । कर्म क्षम एवं मोक्षप्रियापी प्रिये मुपात्रदान ही उत्तम माना गया है क्योंकि उनके देने से पुण्य में का वृद्धि होकर कर्मशिरा होती है ।

७—प्रतिदिन नियम ग्रहण —निवृत्ति धर्म्यास के लिये प्रतिदिन यह नियमों के ग्रहण का विधान है । धावक को उन्हें प्रतिदिन करना चाहिये । इससे धनन्त पदार्थों के प्रति उत्पन्न कामनाओं का नियमन होता है और उपराम प्रीति से चित्त को ध्यानि मिलती है तथा निष्प्रयोजन होने वाला सह, वाणी एवं शब्दों द्वारा जो दुष्ट हिंसादि हैं वह दूर जाता है ।

(८) बारह व्रत ग्रहण :—अहिंसादि, जो बारह व्रत हैं (पाँच अष्टांग व्रत और बारह व्रत) उन्हें बारह करना आवश्यक है और उनमें भी तीन मुख्य और बारह व्रतों—मूल व्रतों का ग्रहण अतीव आवश्यक है । वे धावक धर्म के लिये हैं । वे ही उनके पालने और धर्म्यास के लिये हैं । मूल के पश्चात् उत्तर है ऐसा नहीं कि उत्तर व्रत के बाद मूल व्रत हैं । उत्तर व्रत या व्रत मुख्य और सीमित काल के लिये, अनिश्चितता का विशेष करने हैं पर मूल व्रत (मुख्य) जीवन भरके लिए और और प्रसिद्ध पाँच पापों-हिंसादि का परिहार है । मूल व्रत के सम्भाव में देवविरत सदा साधक नहीं होती क्योंकि

मोटः—२-३-४-५ ६-७-८ आदि वाले विषयों के लिये ऐसी परिशुद्धः
 १० २०-२१-२२-२३-२४-२५ ।

प्रसन्न, विवेक विबल तथा सदा सममायि और दुःख-वर्षों में रहना है धर्म : बड़ा धर्म पालन का विचार नहीं, धर्म के साथ वे घर, परिवार वन तारीर तथा जीवन शाय कारक है । सर्वप्रथम हमें दूर करना धावक का कर्तव्य है । इनके मद्भावे में धावक धर्म का पालन सम्भव नहीं । ये धान — जूना, मीनमशरू, मरिचापन, बेंदयागमन, गिराज, बोरी तथा परस्त्री समलु है ।

इन दुष्कर्मों के साथ मद्य और मांस मद्यलु तथा पीन उदुम्बर आदि पानों के खाने का त्याग करना चाहिये । क्योंकि धावक भलाभी होगा है । ये उदुम्बर, गुल्म, बर, पीपल आदि पान बहुवीर्य वाले होते हैं । इन उनमें खाने योग्य कम और पीने योग्य अधिक पदार्थ होता है । बहुवीर्यक पान त्याग्य है क्योंकि एक बीर्य में एक जीव अवस्थ रहता है, दूसरी बात यह है कि उनमें बनस्पतिक जीवों के साथ मृन्म वन जीव भी रहते हैं । इसी प्रकार मोस और मरिच की उत्पत्ति मोर प्राप्ति, तस, जीवों की, हितावय है ।

१३—पूर्वाराधनः— दूध, पचमी, धण्टमी, एकादमी, चतुर्दमी, पुणिमा आदि पूर्व दिनों में सामारिक धारम्भ हिमादि कार्य में प्रवृत्ति उपेक्ष कुर्तों, जजामो को छोड़कर—त्याग कर वन, दया, पीपय, सबर आदि करना चाहिए । ये गिरा—धर्मगत वन है । इनमें मन, तारीर धर्मानुष्ठान के सम्मान हो जाता है, धारम्भ परिग्रह में वर्तमान में निवृत्त, वन काम में हुए की मनुष्य तथा आत्मा की काय के निम्न जागरण प्राप्त होता है । इस अनुष्ठान में काम्या प्रसन्न नहीं होता । धावक पूर्व दिनों में तो सम्मान वनी का आचरण अवश्य करता है ।

१४—क्षान्ति-क्षमापना—क्षमा लेना और क्षमा देना धावक का कर्तव्य है । मनुष्य से मनुष्य का वनमाने से हो जाती है और उसका काय जागरण परिनिवृत्ति, सामारिक जागरण मन का राग-द्वेष, कषाय आदि है । निम्न इसका निवृत्तता दीप्त हो जाता चाहिए । सम्पदा जब नष्ट कर

१७— अनुबन्ध — मध्यमोक्त का सबसे प्रधान लक्षण क्या है।
स्वीकार किया गया है। दुर्बल धीरे-धीरे, मन, आत्मा अथवा किसी भी प्रकार
की दुर्बलता हो उसे येन-येन प्रकारेण दूर करने का प्रयत्न करना आत्म-
वर्तमान है। क्योंकि दुर्बलता स्वयं ही पाप है। यह आत्मोन्नति में बाधक है।
मनो, प्रमोद, बरणा एवं माध्याम्य मान हृदय में आत्म-वर्तमान है।

१८— जिन-मनुष्य — मनुष्य जितने भी मनुष्य-गुण-कीर्तन करना
चाहता है। क्यों? इसमें कि वे राग-द्वेष के विवेक हैं। इनमें पूर्ण आत्म-
गुण दीप्तमान है तथा धर्म के सत्यापक, प्रतिष्ठापक हैं। इनके मनुष्य-वर्ण
हृदय में धर्म का भाव है, उनमें हठता नहीं है। गुण के
विषय में मनुष्य-वर्ण मान्य होते हैं।

१९— स्वाध्याय निरत — आत्म-वर्तमान में प्रतिदिन स्वाध्याय, धर्म
शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन अत्यन्त करना चाहिए। इसमें गहन ज्ञान में
निर्भरता तथा गहन अध्ययन और गहन-ज्ञान की समाप्ति होती है। आत्म-
में कहा गया है कि स्वाध्याय करने यदि उत्कृष्ट समाप्ति (रस) का भाव तो
आत्म-वर्तमान के वर्तमानों का अध्ययन और तीर्थ-वर्ण मान्य का वर्ण
मान्य हो जाता है। अन्यथा ज्ञान प्राप्ति और धर्म निर्वाण तो होती ही है।

२०— प्रतिमा-वर्ण — आत्म-वर्तमान में आत्म-वर्तमान प्रतिमा-
वर्ण को ही उन्हें धारण करना। इसमें विमुक्ति पुन तथा धर्म-
वर्ण में मुक्त होता हुआ आत्म-वर्तमान दीप्त-भूत एवं धर्म जीवन विनाश
। यह उसके आत्म-वर्तमान की वर्तमान प्रतिमा है।

२१— समाधि-वर्ण — आत्म-वर्तमान में समाधि पूर्वक करने का दृष्टि
। समाधि-वर्ण मनुष्य के मन में या आत्म-वर्तमान में समाधि-वर्ण
न हो जाने पर मन में धर्म-वर्ण मान्य होता है।

आत्मार्थः एकदृष्टिः] (२०)

[श्रावक-कर्तव्यः]

जब आत्मा मात्र से रह कर शरीर द्वारा निरन्तर तथा अश्रम आदि आहारों
परिग्रह करती हुई जीवन तथा मरण की कामना न करते हुए समभाव पूर्ण
आत्मार्थ समाधिप्रयोग है। समाधिप्रयोग ही वस्तुतः मरण है अन्य तो सो
विचारते, अतएव मरण से मरना मरण की कोटि में नहीं है। वह तो विवर्तन
पूर्वक ही का प्रयोग करना है, जो मन में ऐसा नहीं चाहता।

इसके विपरीत जहाँ अज्ञान मुख्य सम्बन्ध आत्म-विमुक्ति के
लिए नहीं माना जाय और व्यावहारिकता के गौण रूप का दृष्टी में अज्ञान
का प्रयोग है। जहाँ यह आत्मार्थ मुख्य है अतएव नीति एवं व्यवहार पूर्ण
आत्मार्थ का ही वह आत्मार्थ के पूर्य हीन यत्नों के प्रतिकूल नीति एवं
व्यवहार का प्रयोग हीनता में प्रयत्न नहीं रहा।

[अज्ञान तत्त्व के आधार पर]



एक

श्रावक

‘श्रावक’ जैन धर्म और उसके वाङ्मय का पारिभाषिक शब्द है। यह गृहस्थ श्रावक के लिए प्रयुक्त होता है। जैन-धर्म के साधना के दो रूप हैं—एक गृहस्थ की धर्म साधना तो दूसरी साधु-धर्म की। गृहस्थ की साधना अणुरूप में, साधु की महानुरूप में होती है। किन्तु समाज भी आध्यात्मिक जीवन में, संघ में महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसे भी मोक्ष का पथिक कहा गया है। आगम में इसकी गणना चार प्रकार के तीर्थ में की गयी है—साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ और संघ।* साधना में संलग्न गृहस्थ को गृहस्थ में रहते हुए भी मुक्ति कहा गया है तथा उसकी अनातना के लिए आलोचना करने का विधान है।†

अणु-साधना का स्वामी होने पर भी ‘श्रावक’ क्यों महान है यह ‘श्रावक’ शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट हो जाएगा। ‘श्रावक’ पद में तीन शब्द हैं—‘श्रा+व+क’। इनमें ‘श्रा’ शब्द तत्त्वार्थ अर्थज्ञान की सूचना करता है, ‘व’ शब्द सप्त धर्म-क्षेत्रों में धन रूप बीज घाते की प्रेरणा करता है और ‘क’ क्लिष्ट धर्म या महापापों को दूर करने का शक्ति करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर यह नाम निष्पन्न हो जाता है—

‘धम्मि एवमिह तत्त्वार्थं अर्थज्ञानं निष्ठां नयन्तीति श्रा,
तथा वरमिह गुणवर्णनं क्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः ।

- चउदिहे संघे प० सं० (निरर्थं पुष्प.....) समणो, समणोघो,
सावणा, साविदापो । [मू० ३९३, न० २ व० ८ उ०]
† एक निजला समासमें, निरर्थक में श्रु मु कषा, उल० ४११४
सावणां सावणणा साविणा सावणणा । —श्राव०

तत्त्व-वैशेषिक पदार्थ को तत्त्व कहते हैं अर्थात् जीव, अजो

कर्म के कारण ही हमारे जीवन का उभर रहा मान

[illegible]

वह पुद्गल—जड़ के स्वभाव आत्मा के स्वभाव को ज्ञान कर जीवन में सामंजस्य स्थापित करता हुआ अध्यात्म वाद की धोर अग्रसर होता है ।

उक्त आधारों पर श्रावक में सम्यग्दर्शन का होना अत्यन्त आवश्यक है तथा धर्म धर्मणु—मुनने का गुण भी आवश्यक है क्योंकि 'श्रावक पद' श्रद्धा और श्रवण भाव से बना है साथ ही उने केवल श्रद्धा और श्रवण का पात्र नहीं बल्कि दान, धन-संगम का पात्रक भी होना चाहिए ।*—श्रावक के श्रवण गुण का उल्लेख करते हुए एक आचार्य ने कहा है—जो सम्यक्त्व की धीर अणुश्रुती होने पर भी प्रतिदिन माधुषो ने गृहस्थ और मुनियों के आचार-धर्म को मुने वह श्रावक कहलाता है । एक मनीषी ने इसमें भी आगे बढ़कर मुनने तथा क्रियाशील रहने की व्याख्या की है कि जो परमोक्त के लिये हितकारी, सम्यग्जिन वचनों को उपयोग-में मंजता है, तथा कर्म के प्रति तीव्र रूप को नष्ट करता है वह यही उत्कृष्ट श्रावक है ।† यही श्रवण के लिये कहा गया है ऐसा

* स सम्यग् दर्शनं समग्रं प्रवचनं भक्तिमान्, यद् विद्यायः परं निगमं यद् स्थापनं धृतिरथ श्रावको भवति । [जाता १ धृ. १६ अ.]

अभ्युपेयं सम्यक्त्वं प्रतिवप्राणुवतोऽपि प्रति दिवसं प्रतिष्य ।

समाचारोत्पातमाचारिणा च समाचारी श्रुतीतीति श्रावकः ॥

[धार्मिक धर्म प्रवृत्ति पा. २]

अथातः हृष्यादि विदुः सत्तापर, समाचारमनु प्रभातम् ।

श्रुतीति च साधु वनाद् गच्छन्, श्रावकं प्राहुरमी विनष्टा ॥

[अभिधान राजेन्द्र 'साधव्य कथर']

† परमोक्तं हि यं गम्य को हितवदन् मुनीन् उच्यते ।

यद् नित्यं ब्रह्म विवक्षा मुखागो साधरो एव ॥

[८५ १]

२ (ग)]

[श्रावक-कर्तव्य श्रुति]

धन—अहिंसा, नंदन और नप नशण वाला धर्म है।
 अहिंसा दया जीवन धन, उन्धान की और अग्रमर होता है। इ
 अग्रमर अहिंसा, धनधन, धीर भोग को धर्म मानना मिथ्यात्व है। सर्व
 धनधन, धर्म धन, मुक्तिप्रदाना तत्त्व धर्म है।

सन्ध - निर्दोष पदार्थ को सन्ध कहते हैं अर्थात् जीव, अजीव
 धन, ता आशय सन्ध, निर्जंग, सन्ध और मोक्ष इनकी तत्त्व संज्ञा
 है। (Substance)

सन्ध - निर्दोष पदार्थ विद्याम करना सम्यक्त्व है और अग्रम
 विद्याम सन्ध, निर्दोष मिथ्यात्व है। जीव को अजीव, अजीव
 सन्ध धर्म को अग्रम और अग्रम धर्म, ता को पुण्य और पुण्य
 धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।

अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।

अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।
 अग्रम धर्म को अग्रम और अग्रम के कारण।

वह पुद्गल—जड़ के स्वभाव आत्मा के स्वभाव को ज्ञान कर जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अम्यात्म वाद की ओर धक्का करता है।

उक्त आधारों पर आवक में सम्मग्नदर्शन का होना अवश्य आवश्यक है तथा धर्म ध्वण—मुनने का गुण भी आवश्यक है क्योंकि 'आवक पद' श्रद्धा और अवलम्बन भाव में बना है साथ ही उसे केवल श्रद्धा और अवलम्बन का पात्र नहीं बल्कि दान, धन-संयम का पालक भी होना चाहिए।*—आवक के ध्वण गुण का उल्लेख करते हुए एक आचार्य ने कहा है—जो सम्मग्न हो और अणुमन्त्री होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार-धर्म को सुने वह आवक कहलाता है। एक मनीषी ने हमसे जो आगे बढ़कर मुनने तथा क्रियाशील रहने की व्याख्या की है कि जो परलोक के लिये हितकारी, सम्मग्न जिन वचनों को उद्गोचर में सुनता है, तथा कर्म के धर्म तीव्र रूप को नष्ट करता है वह यही उत्कृष्ट आवक है। यही अवलम्बन के लिये कहा गया है ऐसा

* स सम्मग्न दर्शन सम्मग्न प्रवचन अतिमान्, पद विपादयक निरत
पद स्थान युलक्ष आवकः प्रवृत्तिः । [ज्ञाना १ अ० १६ प०]

अमुपेत सम्मग्नः प्रवृत्तिप्राप्तोऽपि प्रति दिवसं वसतिम् ।

समाचारसाधूनामाचारिणः स समाचारी श्रुतीशील आवकः ॥

[आवक धर्म प्रवृत्ति का २]

आचार्य ह्येवार्थः विदुः सम्मग्नः, समाचारमनु प्रवृत्तिम् ।

श्रुतीनि स साधु जनाद् गच्छन्, आवकः श्रुतीनि श्रुतिना ॥

[समिधान राजेन्द्र 'मावय इति']

१ परलोक हितं कर्म को श्रुतिवदण सुते उच्यते ।

यदि दिवसं वसति साधुनामा साधु एव ॥

[पृष्ठा १]

[श्रावक-कर्तव्य
 की जो उत्तरीय पर्याप्त के निम्ने हितकारी है, जीवन के लिये सम-
 सम्बन्धों के निर्माण के लिये भी जान हो सके केवल मुनने से
 प्रतीत हो सके।

महा श्रावक—प्राप्त में महाश्रावक पद का भी प्रयोग है। इसमें
 श्रावक के लिये प्राप्त हो सके। महाश्रावक (महा) पद श्रम में विशेषता
 के लिये निर्माण के लिये प्रयुक्त हो सके।
 महाश्रावक पद का प्रयोग

आवक]

[४ (क)

आवक तथा उक्त उसके पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में ज्ञात होता है कि आवकत्व मूलतः सम्पत्कत्व, अद्वैतानुता तत्त्व—के प्रति भक्तिमान, तथा देन—अस्तुवत के पातन में है न कि किसी जाति, वर्ण, भाषा और देन, ज्ञान की परिधि में है। वह तो आत्मा के, तत्त्व के प्रति मधार्थ औरिणाम और आचरण है अतएव आगम में भगवान महावीर ने मनुष्य : अनिरिक्त पञ्च-पक्षी जीवन में भी इसका विकास बताया और म्यगुर्दर्शन तो हमने भी निम्न कोटि के भूतात्माओं में पाया जाता है। ५-पक्षी जीवन में जो समनस्क (मन वाले with mind) एवं जाति रण ज्ञान वाले हैं सम्मगुर्दर्शन युक्त होकर स्वारह प्रतधारी हो सकते विन बाहरके मन की भावना और दलाली ही कर सकते हैं, स्वयं ने दान देकर प्रतिज्ञा नहीं ले सकते हैं क्योंकि वहाँ साधनों का अव होता है।

• •

स्वीकार करके चलती है किन्तु प्रा-ग्रहण के अपने मौलिक रूप उपस्थित करती है—

(क) स्वे० धाम्नाय में व्रतग्रहण के मुख्यतः दो प्रकार हैं :—

१—यथानक्ति एक, दो पापों से विनय होना या महिसाणुव्रत आदि ग्रहण करना ।

२—मर्वप्रथम अणुव्रत, बाद में गुणव्रत और फिर निशा व्रतों में ग्रहण करना । अर्थात् पहले मूलगुण बाद में उत्तर गुण । इन व्रतों में ग्रहण के बाद इनका पालन भी उक्त विधि के अनुसार ही है किन्तु धम्याप्त हो जाने पर विशेष सुदृढकरण के लिए विवक्ष्य में स्थाय्य प्रतिमा ग्रहण का विधान है तथा अन्तिम समाधि मरण, संवेतना का ग्रहण भी, यह तीसरा प्रकार है ।

उपरोक्त पद्धति में श्रावक के दो नाम— प्रापारी, प्रतिमापारी होते हैं और इसी में सामान्य और विशेष श्रावक बड़े जाते हैं । श्रावक और महाश्रावक भी ।

(ख) दिगम्बर धाम्नाय में श्रावक की प्रा-ग्रहण अवस्था के एवं पालन के तीन भेद हैं —प्रारम्भ, मध्य और पूर्ण । दूसरे शब्दों में व्रत रूप में, निष्ठा रूप में एवं पूर्ण रूप में देवव्रत का पालन होता है । और इसी तीनों अवस्थाओं या चरणों के आधार पर श्रावक भी तीन प्रकार के होते हैं —प्राथम्य, मध्यक, साधक ।

१. प्राथम्य —जो एक देव में अर्थात् प्राथम्य रूप में हिमा का त्याग कर श्रावक धर्म की ग्रहण करता है । ऐसे समय व्यक्ति (श्रावक) बहुत बोज वाले पाँच प्रकार के व्रत (उदुम्बर आदि) तथा ब्रूमा आदि सात दुष्कर्मों की छोड़कर अहिंसा का साधना में लगता है । उसका यह त्याग व्रत—प्रथम रूप से है अतः प्राथम्य श्रावक है ।

६]

[आवक के प्रकार

२. मेरिठत :- निष्कार्वाक पाँच अणुव्रतों (अहिंसा आदि) का निर्विचार निरीय मन में पालन करता है, तीन गुणव्रत तथा शिक्षा दान भी सम्मत्तावन करता है। जीवन के सामान्य कार्य भी सम्मत्तावन मन में करता है।

३. माव्रत :-

४. माव्रत :-

आवक के अन्य दो प्रकार— अन्तर्दृष्टि एवं रुचि तथा चारित्र्य के आधार पर उपर्युक्त आवक के दो प्रकारों का वर्णन है। प्रस्तुत पक्षियों में आवक के निश्चय और व्यवहार की भूमि पर दो भेदों का उल्लेख है।

१. **द्रव्य आवक**— तत्त्व के प्रतिपूर्णा, विभुद्ध परिणामों का न होना किन्तु प्रकट में 'आवक है' ऐसा प्रतीत होना, मनमें आप्ण या चंचलता का होना तथा वस्तु का पानन, पथरायन धर्मप्रवण, संवेग, निर्वेद, अनुस्यूता, आश्रित्य का बाह्य रूप में प्रदर्शन यानी इन बाह्य क्रियाओं का आचरण उपयोग भूम्य होकर करना द्रव्य आवक का रूप है। यह व्यवहार है, क्योंकि इसमें मात्र द्रव्य क्रिया का आचरण मुख्य है और क्रिया उग समय तक व्यवहार और द्रव्य रहती है जब तक उसका प्राप्ता में ठीक अन्तर्दृष्टि और स्पर्शन न हो जाये। हम इन क्रियाओं द्वारा आवक का ज्ञान कर सकते हैं, अन्तर्मन का ज्ञान दिव्य दृष्टि वांते कर सकते हैं। पर यह क्रियाएँ अन्तर्दृष्टि में सम्पन्न हो तभी जीवन निश्चय और भाव आवक का रूप प्राप्ता है।

२. **भाव आवक**— तन्त्ररुचि में विभुद्धि अन्तःकरण की निर्मलता, तथा यथासमय क्रिया के आचरण में अन्त विवेक, परिणामों में असंवेग, अन्तर्भाव आदि ये भाव गुण हैं आन्तरिक रूप हैं, इनमें सम्पन्न उक्त क्रियानुष्ठान वाला भाव आवक है। भाव के अभाव में अनुस्यूता में कोई भी क्रिया कोरी तब द्रव्यानुष्ठान ही है। यही भाव) वस्तु का अन्त पर निश्चय कहलाता है। भाव का ज्ञान व्यक्ति (आवक) के व्यवहार, बाह्य क्रिया के आधार पर हम अनुमान से ज्ञान कर सकते हैं। यथा पूर्ण हैं कि द्रव्य के आधार से भाव का प्रकाश होता है।

१३]

- [आवश्यक-कर्तव्य]
- (ग) यदि मैं जल के ना में सागरी मंथरा करके, देह ममता की दूर करता ।
- (घ) यदि दिनों में क्षम, पीयूष आदि वातवृत्त करना । यद्यपि दृष्टिवादी के साक्षात्कार करना करता ।

र (क)

भावक के चार प्रकार

भादमी का जीवन बड़ा ही रहस्य पूर्ण और विचित्र है। इसका यह वैचित्र्य कभी-कभी मानव मस्तिष्क को विभ्रान्त कर देता है और वह उचित-अनुचित का निर्णय ही नहीं कर पाता।

मनोविदों ने उनके इस विचार, दृष्टि एवं व्यवहार वैचित्र्य का कारण मन की विचारणा शक्ति के विकास की मन्दता-नीचता बतलाया है। साम्प्रोय दृष्टिकोण से हमें मतिज्ञानावरण तथा दर्शन मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोरसम व क्षय में होने वाली आत्म-परिवृत्ति बहा गया है। इस परिवृत्ति में प्राणी के विचार, आत्म-आश्रयवाय भिन्न-भिन्न प्रकार रहते हैं (हठ, हठतर, हठम भी, मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते हैं) और उसी नियम में वस्तु दृष्टि, तत्त्व दृष्टि तथा व्यवहार होता है। किसी की Understanding Power कुछ तो किसी की अगुड अर्थात् मति-विगुडि के कारण मियां आपट नहीं होता तो किसी में आपट का आधिपत्य रहता है।

भावक भी एक निश्चयानुसार मन्द मति एवं तीव्र मति वाले होते हैं। जिसमें जितने क्षम में मति की विगुडता है उतना आपट, हठ, बल, मति की मन्दता में उतना अधिपत्य रहता है। साथ ही विन की विचरता भी इसी प्रकार की होती है।

आत्म में ये भावक चार प्रकार के बंटे गये हैं :—

१. आदर्श समान
२. पदाका समान
३. रसागु समान
४. सर वण्टक समान

10

11

12

13

1000

भावक के लिये मुक्त]

[२०]

(आ) ब्रह्म के भावे (ब्रह्मण-पद्धति), भेद, और दोनों का
पूर्णत्व में जान करना ।

(इ) मुक्ति के लिये ब्रह्म का शुद्ध काल के लिए या जीवनमान
को ब्रह्म करना ।

(ई) ब्रह्मण भावे का सम्पूर्ण प्रकार में जान ।

(२) मुक्ति :- मुक्ति मयोद्विनि एवं आचार्याह्व होना मुक्ति
है । यह तीन प्रकार का है :-

(अ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(आ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(इ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(ई) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(अ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(आ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(इ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(ई) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(अ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(आ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(इ) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

(ई) ब्रह्मण भावे :- (ब्रह्म, ब्रह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्य) का
पूर्णत्व, भेद, और दोनों का पूर्णत्व ।

भाव

भाव श्रावक के गुण

अनेक द्रव्य के संगत होते हैं—द्रव्य और भाव । द्रव्य, वस्तु
वा वायु इत्यादि का भाव आकारित । वस्तु भाव के विना दोनों का भाव
अविद्यमान है । वस्तु द्रव्य के अविद्यमान भाव ही संभव होगा, भाव में पूर्ण
द्रव्य का अविद्यमान भाव नहीं है, भाव निश्चय । व्यवहार और निश्चय
दोनों ही अविद्यमान भाव ही संभव होगा, भाव ही संभव नहीं । भाव ही संभव
होगा ।

[श्रावक कर्मव्य

प्रत्यक्ष किया का भाग कुछ प्राप्तरण करते यदि रसानुभूति हो जान हो तो तब अपने जन्म जन्मान्तरों के बन्ध कर्मों के संस्कारों का शय कर देता है और तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लेता है ।”

इस है भावी का भयंकार । हमने अभ्यास में किया हूँ तो यह प्रतीति । कहा भी है—“भावनो भवनाग्निनी, भाव विन मोक्ष न पावहि ।”

इससे सीधे और भयंकर महावीर के प्रश्नोत्तरों में एक भाग्य के विषय में भी सुन्दर प्रश्न है—

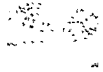
प्रश्न । भाव का क्या है जीव को क्या मिलता है ?
 ज्ञान । भाव को विदुषि होती है, प्राणी अर्हता प्रतिपादित ।
 प्रश्न । भाव का क्या है जीव को ?
 ज्ञान । भाव का क्या है जीव को ?
 प्रश्न । भाव का क्या है जीव को ?

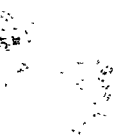
[अथ मयह, कर्मव्य २, पृ. २२ टीका]

• •

३०]

[शायक-कर्तव्य कर्मचारी]
शायक-कर्तव्य की सोच है, वह निरन्तर सोचता है—
‘मुझीतु को दे’। - मुझे जहाँ को देना हृदय में मेरे प्रेम के
उपलब्ध करे ।





कहा कि मैं जब श्रावक-वार्ता (गौतमीय वचन मानने वाले) के
 दो दो प्रश्नों के उत्तर देकर श्रावक-वार्ता को निर्वाचन (मंत्री) के
 रूप में चुना गया था। श्रावक-वार्ता को गौतम ने पदवी दी थी। श्रावक-वार्ता
 को श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था। श्रावक-वार्ता को श्रावक-वार्ता
 के रूप में चुना गया था।

श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था। श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था।
 श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था। श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था।
 श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था। श्रावक-वार्ता के रूप में चुना गया था।



11

"नियम" शब्द भारतीय संस्कृति का सबसे मधुर शब्द है। नियम जीवन को नियमित, पदार्थ रसि को मोमित करता है। जीवन के लिए कुछ नियम स्वाभाविक हो होने हैं जो कुछ विनिर्दिष्ट धर्मशास्त्रों की लेकर होने हैं। जिस प्रकार भोजन का नियमित व परिमित मात्रा में करना स्वाभाविक नियम है किन्तु कौनसा भोजन, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त है, और कितना यह मन की क्षमता की सीमित करने के लिए निश्चय करना विशेष नियम है।

एक गिण्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—“कि सारो ?”

गुरुदेव ने उत्तर में कहा—“सार तब-नियम-संज्ञम-सीलं।”

अर्थात् जीवन का सार तप, नियम, मयम तथा शील ही है। ये चारों तत्व आरम्भ की, मन की मर्यादित, पदार्थ सृष्टि से दूर तथा पवित्र करते हैं। जीवन का यह सार है कि तप से इच्छाओं का निरोध, नियम प्रहण मर्यादा, मयम के बीच इन्द्रियो एवं मनोनिग्रह का विवेक पूर्ण प्रवृत्ति और शील से वायिक आचरण की प्राप्त किया जाय।

नियम का अर्थ है निर्मित रूप में आचरण। ये जो दो प्रकार का है—धर्मशान्त (बुद्धि) का त्याग धर्मवा प्रवृत्ति के आचरण की नियमितता।

ये नियम चौदह हैं—

(१) सविज्ञाः—सजोय पदार्थ-जल, पाय-पुन, बीज, धान्य आदि

“सविज्ञा इत्येतानि, एते तान्त्रिके तपः कहेते।”

यह सब तपः विज्ञेय, तपः विज्ञेय तपः कहेते।

का दशीकरण सम्पादित । ७ भूल का प्रायश्चित्त करना, ८ विनय—
९ वैश्यावृत्त्य (सिवा, शुभ्रपा) १०. स्वाध्याय, ११ ध्यान (चित्तवृत्ति-
निरोध) १२. व्युत्सर्ग—नपाय, समार और कर्म का त्याग करना । ये तप
के प्रकार हैं जिनके आचरण से कर्मपर्यवो का अवमान तथा ज्ञान, दर्शन
और चारित्र्य गुण का विकास होता है ।

दान — दान का धर्म है जो दिया जाता है अर्थात् देना । प्रश्न होता
है क्या देना और किस लिए देना ? कहा गया है अपने और दूसरों के
उपकार के लिए अर्थात्—पात्र, अवसरकता वाने को जो दिया जाता है
वह दान कहा जाता है । इसका आचरण ही दान धर्म है ।

दान अनेक प्रकार का है—किन्तु यहाँ मुख्य रूप से चार प्रकार
का कहा जाता है सब हमी ये ही अन्तर्गत आ जाते हैं—ज्ञान दान,
समय दान, समीकरण दान तथा अनुकम्पा दान ।

ज्ञान-विद्या पढ़ाना और पढ़ाने वाने की सहयोग देना, अपने
पदवा दूसरे में (दुर्गो में) समयमोत्र, कर्म प्राणिमो को निर्भय करना,
आपु, श्रावक की उनकी बुद्ध्यानुसार धर्म साधन के लिए साहाय्य, कर्म,
अथ धार्मिक धर्म साधना के साधन— उपकरण देना तथा चीज होन दुखी
पनाप, गौरी का अकट अन्न दान का (आगो मात्र) अनुकम्पा मात्र में
(अनु + कृष्ण, कर्षण + कम्पन—परबल दुखी प्राणी को देत कर
हृदय में एक प्रकार की सूक्ष्म कम्पन का उत्पन्न होना तब उत्तम प्रेरित
होकर रक्षा के लिए दान देता अनुकम्पा दान है ।

श्रावक को प्रतिदिन कर्त्तव्य तथा धर्म दृष्टि में उक्त दान के
प्रकारों में से किसी न किसी का आचरण करना ही चाहिए । दान का
प्रतिपालन, कर्म निर्जरा, पुण्य कर्म, अनुपय उन्नत का अनुकम्पा होता है ।
यह शुभ कर्म है इसमें दारिद्र्य का नाश होता है । वे हैं वे दैनिक षट्-
कर्म जिसके लिए श्रावक को नियम आचरण सीत रहना चाहिए ।

दान बोद्धे]

[७३]

मिता है। अतएव गृहस्थ का द्वार दान के लिए सदा खुला ही रहना चाहिए। अरण्य में कहा भी है—“उत्तिय कलित्वा अयंगुम बुधारा”
साधु-संघम निर्वाह के पाँच आधार हैं—छह काय—(पृथ्वी, जल आदि),
गण, राजा, गृहस्थ और शरीर ।

[श्लोक० जगत्तु अष्टिभार १६]

“समस्तं भगव महावीर निरनुत्तो ध्यायतिष्ठ पयातिष्ठ करेद कश्चित्
बद्ध भगवाद्, बद्धिस्त भगमिता, निर्विहाण पञ्चुवात्तणवाण पञ्चुवात्तण । तं
अह—वाइवाण् वाइवाण् भागतिवाण् ।

सूत्र-श्रवण नियम

आगम ज्ञान के रहस्य को जानने के लिए आगम वेत्ता पुरुष की सलाह प्रोत्साहित है। उसके समीप बैठकर ही श्रवणों का ज्ञान होता पर वह ज्ञान किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, दो प्रकार से—
 १. निम्न और श्रवण से। इनमें श्रवण मुख्य है, व्यापक है। आगम में श्रवण सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि श्रवण से ज्ञानरूप की प्राप्ति होती है और ज्ञान में विज्ञान (विरोध ज्ञान—रोग) की। यही धर्म है।

युक्त समीप बैठकर श्रवणों का ज्ञान निम्न बातों या विधि से होता है, यदि किया इन नियम पूर्वक नहीं होगी तो ज्ञान में बाधा पड़ेगा। वे नियम ये हैं—

१. आरम्भ में मौन रहकर सुनना,
२. फिर हुंकारा देना, (ओ हाँ, तहनि बहना)
३. जो आने कहा है वह ठीक है, ऐसा कहना
४. पुन धर्म पूछना (गमक से न आने पर)
५. सुनकर, युक्ति पूर्वक विचार करना,
६. पूर्वानुसर प्रसंग का ज्ञान करने जानना।
७. फिर हठनापूर्वक धर्म को शरण करना।

(१. हुंकार, हाँ कहना, तहनि बहना, ओ हाँ, तहनि बहना, तहनि बहना, तहनि बहना)

... ..

...

...

विश्राम चार

"विश्राम" का अर्थ विश्रान्ति, यानी ठहरना। श्रान्ति-थकावट
र करने का उपक्रम ही विश्राम है। विश्राम में बल की वृद्धि है,
ठहरकर अपने बल-शक्ति का सग्रह-संचय कर लेता है फिर उसी
एक कर्म को पूरा करने के लिए उड़त हो जाता है।

विश्राम-ठहराव घुरी बस्तु नहीं, इसमें शरीर एवं मन को ताजगी
मिलती है कार्य करते-करते श्रान्ति हो जाती है किन्तु व्यक्त शक्ति रक्कर
पूर्व दुर्बलता को दूर कर पूरे बल के साथ काम करने लगता है। जैसे
एक भारवाहक अपने मिर या कंधे पर भार वहन कर चलता है यात्रा
को। उसकी इस यात्रा में धयवा गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में चार
विश्राम होते हैं:—

१. एक कंधे से दूसरे कंधे पर भार रखना (बदलना)
२. मन-भूत के परित्याग के लिए भार नीचे रखना।
३. किसी यशालय आदि में रात्रि को विश्राम के लिए ठहरना।
४. गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर विश्राम करना।

उक्त चार मार्ग को श्रान्ति को समय-समय दूर कर नया बल
ले करते हैं, जिसमें भारवाहक को विशेष पीडा का अनुभव नहीं
। इसी प्रकार श्रावक के चार विश्राम-स्थान हैं—

पहला:—शीतघट (पाँच घण्टा) सुषुप्ति का ग्रहण करना
उपचार में पोष्य आदि करना।

दूसरा:—सामासिक, देहावकासिक इत का सम्मग्न प्रकार से
करना।

[बाहर व्रत]

[८५]

भो तीन भागों में विभाजित हैं—पाँच अणु व्रत, तीन गुण व्रत, चार सिद्धा व्रत । *

पाँच अणुव्रत :—

अणु का अर्थ लघु या छोटा । महाव्रत की अपेक्षा जो गुण, तबना की दृष्टि से जो छोटा व्रत है वह अणुव्रत है । अथवा जो अणु छोटे रूप में स्वीकार किये गए हैं । उमवा दूगगा नाम शीनव्रत है ।

(१) स्मृत प्राणातिपात विरमण-मूल-मोटे रूप में, अथवा प्राणा-तिराज + प्राणी का नष्ट करना अर्थात् हिना में विरमण + निवृत्त होना मूल प्राणातिपात विरमण व्रत है । इसमें (प्राणी) व्यक्ति सापराध (स्वसरीर के लिए पोषकाद्य, अपराधो तथा स्व-सम्बन्धी के अपराधो आदि) के अतिरिक्त निरपराध प्राणी हिमा का त्याग दो करण-कर्म नहीं, करवाऊँ नहीं, तीन योग—मन, वचन और काया से करता है । (देश राज्य, जाति तथा समाज के अपराधो इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं) ।

इस अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार दोष हैं— वन्य, वध, द्रविक्षेद अतिभार, भक्ष-पान व्यवच्छेद ।

१—वन्य :— शिपद-नौरर आदि, चतुषद-चोपाय, गाय, घोडादि को दृष्ट भावो, निर्दयता, मोघवश समावधानो में रखी आदि से बाँध देना वन्य है ।

२—वध :— बेत, बोटे आदि से मारना वध है । पुत्र, परिचारक आदि, गाय, घोडा आदि (शिपद-चतुषद को मारना, निर्दयतावश अपराध पर मारना वध अतिचार है ।

३—द्रविक्षेद :— दोगाये, चोप, दो के ताज द्वारा दृष्ट भावों से प्रेरित होकर सरीर के अंग-उपाग या अंगोपाग का काटना क्षेदना ।

४—अतिभार :—शक्तिसे अधिक बोझ सादना अतिभार अतिचार है ।

* वही दो विभाग भी हैं—अणुव्रत और ३ सिद्धाव्रत । वंश दृष्टाव्रत, लक्ष्मिणा अथवा—पुत्राभिलाषि विद्विषाये,...

३—अनंगक्रीड़ा—अनू + नहीं है, अंग + काम सेवन के साधन—सारी-राखवव जो, उनमें काम सेवन करना या प्राकृतिक अंगों को छोड़कर अप्राकृतिक अंगों में विषय सेवन करना। जैसे कि हस्त-कर्म अथवा अन्य उपायों का प्रयोग। उपचार से स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ मैथुन के सिवा पुम्बन, आतिग-नादि करना भी अनंग क्रीड़ा है।

४—पर-विवाह करण—अपना एवं अपनी संतान अथवा दामित्व के निर्वाह के लिए सम्बन्धी को छोड़ अन्य के विवाह करने करने में लीन रहना पर-विवाहकरण अतिचार है।

५—काम-भोग तीव्रामिताप—राग, रूप आदि पांच इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होना। स्वदार-संतोषी स्त्री के लिए पुरुष के वेद जनित वासना को शांत करने की छूट है। बाजीकरण आदि औपधियों के बल तथा कामनास्त्री को बधित काम-प्रयोग का उपयोग कर वासना को तीव्र कर रति-क्रीड़ा को निरन्तर चाहना नहीं।

ये वे उपाय हैं जिससे व्यक्ति (थावक) अपने को संयमित रख अपने में समर्थ हो जाता है।

परिग्रह (इच्छा) परिमाण व्रतः—परिग्रह—मोह बुद्धि से वस्तु का भली प्रकार ग्रहण करना परिग्रह है। धर्माणि वस्तु एवं इच्छा और उसका परिमाण करना। श्रेय, वास्तु हिंस्य, स्वर्ण, निम्न वस्तुएँ, धन, धान्य तथा कुप्य—(बीता पीतल आदि के पात्र एवं अन्य घर का सामान) इन सब प्रकार के परिग्रह का परिमाण कर मन की दृष्टि अपना को सीमित कर शरीर को जीवन में बाँट करनी ही इस व्रत का मूल धर्म है। क्योंकि परिग्रह ही शरीर का बन्धन है। मर्दान्तिन वस्तु के उन्नत वस्तुओं का एक करण तीन योग अथवा एक करण एक योग से त्याग दिया जाता है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

(२) चतुर्विंशति स्तव — चौबीस तीर्थ कर देवों की स्तुति या पूजा करना। तीर्थ कर-स्तुति करने में गुणों का व्याख्यान-उच्चारण होता है, मन में रही हुई धर्म-तत्त्व श्रद्धा विबुद्ध होती है, गुण-गुण का उपक्रम बनता है, अध्यात्म-बल जाग्रत होता है, करणीय कार्य नैश के आगे प्रतिभासित हो उठता है।

सामयिक एक क्रियानुष्ठान है, पर साधक के लिए यह समभाव का प्रमाण रूप ही है अतः जिन्होंने सम्भाव की साधना करली है, पूर्ण हो गये हैं जो अथवा जिन्होंने साधकयोग विरति का विधान किया है ऐसे गुणों पुण्यों के गुणों का कीर्तन, व्याख्यान अथवा स्तुति करना आवश्यक है। क्योंकि ये आदर्श रूप हैं। ऐसे पुण्य कौन हो सकते हैं ? तीर्थ कर देव, अरिहन्त देव। तीर्थ कर का अर्थ है तीर्थ की स्थापना करने वाले और तीर्थ का अभिप्राय है जिसमें समस्त स्त्री समुद्र की तरफिया जा सके। अर्थात् धर्म बुद्धाचरण और उनके पदचिह्न-साधक के गुण-कीर्तन करना तीर्थ कर-रूप है। ये पुण्य सर्वदा नि-भोग में रहित वात्सल्य होते हैं। अतएव नियम है कि व्यक्ति आदर्श का अनुकरण करता है और निम्न गुणों की जाग्रत में स्थान पा है उसका पुन पुन उच्चारण, व्याख्यान है और ये गुण एक समय वन में घटित हो सकेगे।

चतुर्विंशति-स्तव साधकयोग-विरति वाले व्यक्ति के लिये आदर्श तत्त्वत्व है।

(३) वन्दन — वन्दन का अर्थ है अनिवार्य और स्तुति-स्तव। और में नमस्कार और वाणी में स्तुति करना वन्दना है। मन बचन व वाणी का यह प्रसरण व्यापार जिसमें श्रद्धाओं के प्रति प्रति और मान प्रकट किया जाता है। वन्दन श्रद्धाओं की किया जाता है और और में अभिप्राय मार्ग-दर्शन में है। करने में गुणों — ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र्य में जो अधिक है ऐसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक तथा श्राद्ध

होना विरति है यानी त्याग रूप किया । इससे आत्मा अशुभ प्रवृत्ति में दूर और शुभ प्रवृत्ति में युक्त होता है । तथा इच्छा निरोध, कृष्ण-भाव, मुक्त-ज्ञान, ज्ञान दर्शन युद्धि आदि सद्गुण प्रकट होते हैं । भगवान् महावीर ने प्रत्याख्यान का फल-निर्देश करते हुए कहा कि प्रत्याख्यान में आश्रय द्वारों का निरोध करता है, प्रत्याख्यान से इच्छा निरोध होता है, इच्छा निरोधगत जोब सर्वद्रव्यो से विवृण्ण, शीत भूत होकर विचरण करता है । †

प्रत्याख्यान—त्याग वस्तु के आधार पर दो प्रकार है—द्रव्य और भाव । धन, वस्त्र आदि वस्तुओं का त्याग द्रव्य है और अज्ञान, मिथ्यात्व, भ्रमंमम, कषाय आदि वैभारिक विकार रूप-जो भाव हैं उनका त्याग भाव प्रत्याख्यान है । यही आचर्यक में प्राप्तिचित रूप से शब्दि-करण के लिए द्रव्य युक्त भाव प्रत्याख्यान में अभिप्राय है ।

[अनुयोग द्वार मूत्र आचर्यक मूत्र]

• •

† अथर्ववेद के अथर्व श्रौति निबन्ध । अथर्व वेद अथर्व श्रौति अथर्व ।

मन विचारों का उद्गम स्थल है, प्रतिक्षण नये-नये विचार उत्पन्न हो-हो कर उसी में विलीन होते रहते हैं, ठीक नदी में जल तरंगों की भाँति । किन्तु कोई विचार उसमें से स्थायित्व को प्राप्त भी हो जाता है, यही अभितापा, इच्छा, मनोरथ के रूप में अभिव्यक्त होती है ।

इनका मूल आधार मनोवृत्ति ही है मनः स्थिति शुभ है, शांत है तो विचार भी शुभ, प्रशस्त हैं, यदि मनः अस्वस्थ है तो शुभ विचार की धाना बहाँ ? स्वस्थ मन ही तो स्वस्थ, शुभ विचारों का जनक है । स्वस्थ मन आत्मानुभूत होता है, अस्वस्थ स्वद्वन्द । अतएव भौतिकी वैज्ञानिकों में सोन और धावपित रहता है । दिन-रात अप्राप्य, अविद्यमान वस्तु को प्राप्ति की चिन्ता करता रहता है, तो विद्यमान वस्तु के त्याग की विचारणा ।

इन्हीं दो चिन्ताओं, सोच में जीवन के दिन बीत जाते हैं ।

इसमें ऊपर भी एक चिन्तना है मन की, जीवन को शुद्ध, कृद बनाने की, आनन्दीय एवं धार्मिक रूप में से माने की । यही स्वस्थ, सुन्दर एवं शुभ है । जो शास्त्रीय शब्दों में 'आगरण' या मनोरथ कहा जाता है ।

मन की ऐसी चिन्तना बाल की ध्वेसा तीन प्रकार की मानी गयी है—धनोत्, वर्तमान और अनान ।

इसमें गत बाल की चिन्ता, धार्मिक-दुःख का, मनः क्लेश का कारण है, धनः दुर्मान, धार्मिक ध्यान है, इस सोच से कोई लाभ नहीं, पर तो "अंधे में आगे रोना, नैन रोना" बानी बाज है । इतिनिष्ठ

को मान करने वाला तथा समन—समता, सम्भाव की माधना
ता या समान मन-वाला ।

श्रावक द्वारा साधु जीवन का चिन्तन करने आदर्श का चिन्तन
है, वह इसके बल पर अभ्यास की भूमिका को पार करता हुआ उने
न कर ही लेता है । जिस प्रकार एक निम्न श्रेणी का विद्यार्थी उच्च
श्रेणी के चिन्तन, दर्शन एवं स्वप्न लेता हुआ अभ्यास के बल पर उगमे
विष्ट हो ही जाता है ।

माधना सर्व प्रथम सम्भाव की पूर्ण माधना के लिए वह मन,
न और बाध योगों (व्यापार) को निर्वेश (पार गति) बनाने की
प्रतिज्ञा ग्रहण करता है अर्थात् सामाजिक । वह मन की तीव्र धारणा
। सामाजिकता का वृत्ति से मन का ऊपर उठाकर समता या सम्भाव
स्थित करना सामाजिक का कार्य है । इनमें न तीन कर्मों का निरोध,
व्यवस्था तथा पुरातन कर्म का शय भी होता है ।

दूसरा कदम है, शिष्टा, धर्म, नीति आचार्य परिपक्व इन
व प्रसिद्ध पापों का सर्वथा मन वचन बाधों द्वारा दूर करने का उपा-
य । यह व्यवहारिक जीवन की आदर्शमय स्थिति का टंग है । इस
राम में उन सब बाधों का निषेध है जिसमें पुष्टी, जल,
न, बाध और वनस्पति तथा जगत् की प्राणियों का पोषा-उपाय
पड़ती है ।

तीसरा अभ्यास मानसिक दशा में परमेश्वर परित्यक्त ले जाता है
यानि शून्य बन जाता है । उपाय धर्मा, धर्म, शरणा, निर्वो-
त्पन्ना, मत्त, मत्त, मत्त, मत्त, मत्त धर्म प्रवृत्त हो जान है ।

ये चार संयम होते हैं मत्त, मत्त, मत्त, मत्त । मत्त
शुद्ध होना है । यानि मत्त, मत्त, मत्त, मत्त का धर्म
इन चार आधुनिक दशा में यह विशेष मत्त, धर्म का

होना ही मरणा है। आत्मा अजर-अमर है।* जड़ विनाश धर्मा है, वेग नही। वेगल अवस्था (पर्याय) में परिवर्तन होता है।

जिन्नु मरने की भी कला है। इसमें अन्तर भी है। एक मुख्य प्रद है तो दूसरा दुःसावह। मनोपमों ने प्रशमन मरण की छाया दी है, प्रशमा की है। मरण दो प्रकार का है, बाल मरण, पंडित मरण। अन्य मरदों के ज्ञान, अज्ञान मरण। अन्य भेद में मरण तीन है—बाल, पंडित तथा बाल, पंडित। बाल मरण असमयत पुत्र का, पंडित मरण सुविज्ञ पुत्र-पुत्र का तथा तीसरा आवक का।

संसार में प्राणी कर्मदश जन्म-मरण करते ही रहते हैं। जिन्नु अन्तर ही मरण में। एक अज्ञान अवस्था में भी दूसरा ज्ञान में।

बालमरण : जीवन के सम्यग्ज्ञान से रहित व्यक्ति का मरण बाल मरण है। बाल का अर्थ है अज्ञान और उसमें पुण प्राणी बाल कहा गया है।

विचार के अनुरूप ही आचार होता है, तो विवेक, विचार के अभाव में बाल जीव, मिथ्यात्व वह ही प्रमाद एवं त्रिषादि क्रूर कर्मों का आचरण करता है, वह सदा मागबोद्धा, रगदुःख, मिथ्याकारी, विद्वान्मत्त तथा बरती एवं चला होता है। इन अज्ञान विषयों के कारण आध्यात्मिक एवं आत्मिक पीडा का वहन करना हुआ अज्ञान अवस्था में मरण मरण आदि निरूप मरिदों में जन्म लेना रहता है।

अज्ञान महावीर ने निम्न हृदय में रहण अज्ञाना है इन बाल मरण का—जैसे की एक गरीबान अपनी दाढ़ी को सुप्त मारी में

* "Separation of body and soul" (A. M. Konda)

"वदन्तिवाच विद्वदेव कश्चि" इति १२ विद्वदेवो जीवन् अवस्थाय कावर्त्तः"

इसके दो लाभ, दृष्टिगोचर होते हैं—(१) जीवन, के लक्ष्य का प्रतिक्षण स्मरण रहता है, वह कभी विस्मृत नहीं होता। (२) आदर्श बनकर होने से उसकी प्राप्ति, भरण की स्मृति से मन आदि योग अनुभवादि मार्ग में प्रवृत्त नहीं होते। यदि परिस्थितिबश ऐसा हो जाय तो तत्काल ही तत्काल निरोध हो जाता है। अतएव आत्मा लक्ष्य अष्ट नहीं होता।

ये मनोरथ चिन्तनीय भी हैं, चिन्तन और मनन वस्तु का गंभीर बन करना है, निष्ठा में दृढ़ता आती है तथा जीवन के कार्यों में भी एक या परिवर्तन आता है। चिन्तन के मनोविषयो ने यह लाभ बताये हैं—

विराग, कर्म क्षय, विमुक्त ज्ञान, चारित्र्य की वृद्धि, धर्म-स्थिरता, न चापुष्य का बंध और बोधि—तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति।

सारत्रयी पक्ष के अनुसार मनोरथों के जागरण—चिन्तन में (व्यक्ति) मणोपामक की महानिर्जरा एवं महारसवसान-बन्धों की निर्जरा एवं पर्ययो का अत्रगान-घन्त होता है। धर्मान् धन रूप में कर्म पुद्गलों। निर्जरा कर, संसार का पर्यवसान (घन्त) करता है। मोक्षानिमित्तता तथा क्रमशः दुःखों का क्षय कर मोक्ष सुखों की प्राप्ति करता है।*

इन मनोरथों का जागरण केवल मानसिक ही नहीं बाह्य एवं शारीरिक भी है। मन में चिन्तन, वचन में परावर्तन तथा कानों से श्रवण करना ही जागरण है।

*निर्दिष्ट दृष्टिः समस्तोदात्तः सदा निरोगः महापुत्रः सदा सदा । नं कदा—
 कदाचिद्विपश्यन् नृणां... इति सदा समस्तः, सदावन्ता वास्तव्याः सदा वि.करी
 महापुत्रवत्सलः सदा । [१२७-१३१]

चिन्तन का अर्थ है मनन करना, अथवा किसी वस्तु का एकाग्रता में गंभीर विचार चिन्तन है। चिन्तन एक प्रकाश की भाँति है जो अंधारे के गुण-दोष को स्पष्ट कर देता है। आँखों से देखकर और कान आदि इन्द्रियों से गृहीत वस्तु का पूर्ण स्वरूप निखर नहीं जाता तब तक कि मन उसे जान नहीं लेता।

भगवान् महाश्वर ने जानी गीतम के प्रश्न के उत्तर में चिन्तन-धन का निर्देश किया—

“मायु कर्म के अनित्यक मान कर्म की प्रकृतियों के धन बन्ध को मिथित, दीर्घकाल की स्थिति को ह्रस्वकालिक, तथा तीव्र रस को मन्द रस मान्य, एवं अमाता वेदनीय कर्म (दुःख) का बार बार उत्सर्जन नहीं करना, अनादि धनन, दीर्घमार्गी अनुगति रूप संसार भटकी को क्षीय हो पार कर जाता है।”

आज लौकिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में चिन्तन-गुण का अभाव सा हो गया है धन-शक्ति और भी जागृति दिमागी नहीं रहती। धन, नियम, प्रतिष्ठा आदि के उग्र अनुष्ठान भी है, दूसरी ओर जीवन की पुरस्कार भी है, किन्तु गृहीत माधना और मत्स्य के प्रति विचार हो नहीं। प्रत्येक कार्य की आदि और अन्त में विचार का भरना भरता रहना चाहिए। समया के हल का पहला उपाय तो चिन्तन ही है।

आवक के विवेक दुर्लभ अज्ञो के चिन्तन का विधान मिलता है। हमारा चिन्तन करने में शेष और उत्तम का ज्ञान हो जाना है। जो परिणाम में जानकर प्रसाहसान पक्षि में दास बनता वही जीवत-मुक्ति करण का हस्त है।

एक :—दुःख क्या है ? मन-आकुलता । जब तक आकुलता है
रहेगा, जहाँ निराकुलता आई वही सुख का अनुभव होगा ।

दो :—दुःख दूर कैसे हो सकेगा ? प्रमाद के परिहार में । प्रमाद
त्याग जागरण है, जागता हुआ नुदता नहीं । रक्षा करता है अपनी
दूसरे को भी ।

तीन :—संसार कैसा है ? आर्त्त प्राणी इतस्तत्. परिभ्रमण
रहते हैं, अपने कर्म वश । जन्म, मरण, जरा, रोग आदि दुःख
संयोग-वियोग, रति-भरति, चिन्ता-शोक आदि विभिन्न परिण-
तन हैं इसमें ।

“अहो दुखो ह्य संसारो जस्य कीसति जंतुषो” के अनुसार
ये दुःखमय यह संसार है जहाँ जीव क्लेश का सदा अनुभव
रहा है । फिर सुख कहाँ ? सुख नहीं सुखानाम है । मन एवं इन्द्रियों
विषय आदि अनुकूल है तो सुख है अन्यथा दुःख है । यह सुख
गणिक है, वस्तु जन्म है । सच्चा सुख नहीं । वस्तु आधार है और वह
होमया । यह सुख भ्रमा नहीं, सबीर्ण है, वस्तु-संयोग है तो सुख,
नहीं तो दुःख । इस क्षणिक, नद्वार गगार में घातन-सुख नहीं । इन
उलम्बनो से परे ही सुख की स्थिति है । गगार में रहने हुए भी ।

जहाँ अनेक रूपता है वही सुख - १) एक रूपता है वही सुख है ।
जीव और पुरुष का जब तक संयोग है कोई न कोई विमोहात्मक
स्थिति रहेगी ही अतएव बुद्धिमान पुरुषों ने संसार का वस्तुधो को
प्राप्तिक का, त्याग दिया है और मुक्तो बने हैं ।

इस प्रकार के चिन्तन से सात साम प्राप्त होते हैं — १

१ कैलास कर्मजय विमुक्त मार्ग व वस्तु परिणामो ।

विरया आरय कोटि इय विनाए मुक्तो हृति ॥

[आत्मरत्न प्रज्ञा १९९]

निर्दिष्ट, परिस्थिति, पूर्व स्मृति भविष्य स्थिति आदि हैं। किन्तु मन को क्षा एवं शीघ्र द्वारा चिन्तन के लिए प्रेरित तथा अभ्यस्त जो किया जाता है वह इच्छा पूर्वक या अभ्यासपूर्ण चिन्तन कहलाता है। अभ्यास ही भा जाने वाला मन का विचार जब गम्भीर रूप धारण करता है तब वह चिन्तन की कोटि में आता है। और अभ्यास पूर्वक दिया गया विचार चिन्तन के निकट माने का उपक्रम है, प्रयत्न है मनः इसे एक समय की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया है क्योंकि यह एक प्रकार का अनुष्ठान हुआ।

उक्त अनुष्ठान के लिए समय की जो निश्चिति है वही चिन्तन-ला है। यह भी दो रूप में कि-कौनसा और कितना समय। अङ्गुल एवं अङ्गुल बाह्य भागमें से "कौनसा समय" का उल्लेख है किन्तु 'कितना' समय की अवधि का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है तथापि अनुमान से विद्य है। ज्ञाती एक मन्त्रियों ने रात्रि के तीन प्रहर काल बीत जाने पर अतुल्य प्रहर की चिन्तन-वेत्ता कहा है। मूर्खोदय में पूर्व तक, उ कथन से 'चार घड़ी के प्रभात' में दीप्या छोड़ कर एकान्त बैठकर मैं जागरण-करनी चाहिए।† आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रागेव-ग्रन्थ 'गोसायन' में इस चिन्तन तथा धम-जागरण के काल, विधि और रूप का उल्लेख करते हुए कहा—

आहो मुहूर्तो उतिष्ठेत्, परमेष्ठिन्मृति पठन् ।

कि धर्मा ? कि कुलाश्चास्मि, कि क्षतोऽस्मीति च ॥

—योगसाधन (को ११२)

आचार्य स्वयं की अष्ट-मुहूर्त में उठता आहो, और सर्वप्रथम छ परमेष्ठो का स्तुति—'नमो नमः' का पाठ पढ़ना हुआ धर्म या है, मैं किस कुल वाला हूँ और क्या धर्म है आदि का विचार करना

† पुष्करसागर कावे धर्म आचार्य कावरेकाते— १। [मुद्र विद्या १]

धर्ममार्ग के प्रतिज्ञान क्रियाएँ हो सकेंगी। धर्म जागरण तो मुख्य, स्तम्भ है ही क्योंकि वह तो जीवन स्वभाव है, कार्य है। इसके अभाव में जीवन शुद्धि, भात्म विशुद्धि नहीं हो सकती है।

चिन्ता के भी तीन प्रकार हैं—उत्तम, मध्यम और अधम तथा त्रयमाधमा। अध्यात्म चिन्ता उत्तम, मोह बिना मध्यम तथा काम विषय) की चिन्ता अधम बौद्धि की एवं पर की चिन्ता अधमा-
म है।†

उत्तरनिश्चित सभी जागणाएँ या चिन्तन पूर्व वणिन दो-दो बार की है—स्वान्ताविक तथा इच्छा या अभ्यासपूर्ण । किन्तु यहाँ प्रारंभिक प्रारंभ में अभिप्राय है यथातः प्रातःकालीन जागकर इष्ट-अनिष्ट के स्वप्न का, यन्तु धर्म का और अपने निज-पर स्वर का ।

पदार्थ, परिस्थित की घोट में धाजाने वाला मन का घनायास या म्वाभासिक चिन्तन बारह प्रकार का है जो वस्तुतः महापुरुषों के मन में निहित, उनके मन द्वारा उग समय चिन्तन धारा के रूप में बहता या घागे खलकर प्रत्येक मन के लिए, चिन्तन का विधान बन गया। यह चिन्तन धनुप्रेषा, भावना के नाम में प्रसिद्ध हुआ। जैनशास्त्री में इनका बहुवचना के साथ विधान है। इसे मन का प्रसक्त धनुचिन्तन माना है। वे ये हैं—अनिराग, असंशय, संसार, एषवर, धर्म, धनुचिन्त, धाथव, संवर निर्जरा, लोभ, क्रोधि दुर्लभत्व, धीर धर्म ॥

† उल्लसमुष्माय विना च, मोह विना च शब्दमा ।

अथमा काम बिना न, पर बिना उपमायमा ॥ [परमायमा न. ४]

३. धर्मियासायुः सत्तारैकादशसंख्यायुषि स्वयंयवमश्वनिर्वाणमोह
लोपि दुर्लभं यमं स्वाध्यायः स्वतन्त्रादुषिभूतयत्नेना ।

[अन्वयार्थे अ० ६१०]

The graph plots 'Days since start of study' on the x-axis (0 to 10) against 'Days since last rainfall' on the y-axis (0 to 10). Data points are plotted at approximately (0, 0), (1, 1), (2, 2), (3, 3), (4, 4), (5, 5), (6, 6), (7, 7), (8, 8), (9, 9), and (10, 10). A smooth curve is fitted to these points, showing a positive, slightly non-linear relationship.

•

4

•

• •

1

20

1

•

4

1

•

•

•

शिव यहाँ माना के रूप में है वही ज़िरी समय भार्या भगिनी, पुत्री
पति के रूप में परिवर्तित हो उनके सामने आता है। यहाँ की सर्व
वस्तुएँ दिव्यमनोहीन है, मित्र धर्म के यहाँ के सर्व पदार्थ परिवर्तन
मय हैं। "जन्म दक्यं जरा दक्यं, रोगाणि मरणाणि य ।

महोदयस्य संसारी, जल्य वी गनि जन्मवो ।"

इस प्रकार का विनयन (The miserable nature of the world.) मसार भावना है ।

एकद्वयः—जीव धरेला ही जन्म लेता है और धरेला ही मृत्यु भी प्राप्त होता है, धरेला ही शुभ-अशुभ कर्म का उत्पत्ति करने वाला होता है किन्तु दुःख के काम में कोई मित्र, बन्धुव आदि साम नहीं देते अर्थात् जोव स्वयं धरेला ही अपनी क्रियानुसार कार्यवन्ति होता है । कर्ममग्न ने तस्मा उवेय कानि न बन्धवा बन्धव्यं उवेति । तथा “आया धरेलो धरनेर मग्न धरेलो होय” इस प्रकार धरेले पन का विचार करना (The loneliness of the worldly sojourn) एकद्वय भावना है ।

आधार—मे धन्य है, देह भिन्न है, यह प्रथम में भी भिन्न है, क्योंकि मे धन्य है, मेरे मे कर्मों मे मुक्त होने की शक्ति है सत्य-चित् एवं आनन्द को पूर्णता प्राप्त कर लेने का अद्वैत पुरुषार्थ है, अतः पुरुष है, बाह्यर मूर्त है, मे अमूर्त है, आत्मा का जड़ मे शब्दार्थ व्यवसाय है किन्तु वह अनादि, अन्त है, अनित्य अविनाशो नही। मूर्त होने मे पुरुष-मूर्त-मूर्त-मूर्त, संयोग-वियोग आदि नाना प्रकार के नवरत्न मुक्तों जाता है जब कि मे—आत्मा अक्षर, अमर, अविनाश अविनाशी आदि शुद्ध है।" इस प्रकार भेद विज्ञान का आधार तैयार चित्तन करना अर्थात् इन भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त धन्य धन्य भी है जो उपर्युक्त मुक्तों जाती है आदि विचार करना (The distinctness of the self from body) अद्वैत भावना है ।

एक कर तथा दोनों, पावों को फैला कर खड़े हुए पुरुष की पार्श्व की भाँति यह लोक है। इसमें धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल, तथा कान द्रव्य अवस्थित हैं। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के बनने में सहकारोपायन है अधर्म द्रव्य उनकी स्थिरता में, आकाश स्थापक—स्थान देने में, काल यन्त्र स्वस्व को परिवर्तित करने में सहायक है अर्थात् उपर्युक्त स्वभाव वाले तत्त्व सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। इनमें जहाँ आकाश के अतिरिक्त धर्म आदि पाँच द्रव्यों की विद्यमानता है वही लोक है। मूल में जीव और पुद्गल यानी चेतन और जड़ ये दो द्रव्य ही लोक सत्ता की स्थापना करते हैं। इन्हीं के आधार पर लोक के तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोक को नरक, मध्यलोक को मनुष्य लोक, और ऊर्ध्वलोक को देवलोक कहते हैं। इत्यादि लोक के स्वस्व का चिन्तन लोक भावना है।

शेषि दुर्लभ—शेषि का अर्थ है सम्यग् ज्ञान। बिना सम्यग् ज्ञान के सदचरित्र की प्राप्ति नहीं होती और चरित्र के अभाव में अगुणी तथा अगुणी अगुण में मुक्त नहीं होता एवं मुक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है। अतः अनादि-अनन्त सगर में अतन्त्र काम से जीव भव-धन्य कर रहा है। जीव ने कार्य देश मनुष्य जन्म, उत्तम बुद्धि, दीर्घायु, पूर्ण इन्द्रियो, मानवी तथा स्वर्गीय आदि सभी दुष्प्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति की किन्तु एक सम्यग् ज्ञान के अभाव में इन सब को निरर्थक ही सेवा दिया क्योंकि ज्ञान ही प्रदत्त करने वाला है। इसके अभाव में जीव सम्प्राप्त रहता है इस प्रकार विचार करना दुर्लभ भावना है।

अर्थ दुर्लभ भावना - सुन्दर मनुष्य मनु विन्दन आदि, पुत्र पित्र, विनाद परिवार आदि से सब मनुष्य विन्दे प्राप्त नहीं है उन्हें वही अर्थ

प्रश्न १ :—इहलोक कैसे बिगड़ता है ?

उत्तर :—शील के अपालन से, अविरति-बन्धु प्राप्तिके तथा हिंसा आदि का त्याग न करने से तपा नियम एवं मर्यादा के धारण न करने से पुरुष (प्राणी) का इहलोक बिगड़ता है। अर्थात् वर्तमान जीवन में यश, सुख, प्रतिष्ठा आदि लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन में आनन्द नष्ट हो जाता है। वह अप्रीति एवं अप्रतीति का पात्र बनता है।

प्रश्न २ :—परलोक कैसे बिगड़ता है ?

उत्तर :—शील—(नम्रता, अनुशासन, सद्व्यवहार) के धारण करने, हिंसादि दोषों से विरत न होने से, यत्न साधना के अनुरोधों पर लोका बिगड़ता है। प्राणी एक कर्मधारण से स्वच्छन्द, उदण्ड, वृत्ति तथा अप्रमाणिक बनता हुआ अशुभ कर्मों का उपार्जन, संघर्ष, विह्वलता तथा अविष्य के निम्ने मनुष्य, देव आदि (मुक्ति) जीवन परित्याग कर दुर्गति-नरक, निर्धन का अधिकांश बनता है अतएव परलोक बिगड़ना कहा गया है।

प्रश्न ३ :—जन्म कैसे बिगड़ता है ?

उत्तर :—जन्म बिगड़ने के भी एक तीन कारण ही हैं—कृत्तव्य, अविरति, अप्रत्याप्य। इनमें जीवन असंयमी, तात्काली और अध्यात्मिक हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है। शुभ कर्म योग्य कर्म के अभाव में निष्ठ जन्म को प्राप्ति होती है।

इसके विरही तीन प्रश्न सुधारने के हैं—इहलोक, परलोक और जन्म के विषय में।

परिशिष्ट (प्राकृत)

सामाख्य-सुत

नवकार-नमस्कार-श्रुत (एक)

नमो धरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो ध.परियाणं,
नमो उवग्मायाणं,
नमो सोए सध्व-साहूणं !
एसो पंक्-नमुशकारो, सध्व-पाव-प्यासणो ।
मंगलाणं च सम्बेदि, पद्मं हवह मंगलं ॥

गुरुनन्दन-श्रुत (दो)

विष्णुतो
ध्यादाहिणं पयाहिणं करेमि,
बदामि, नमंतामि,
सकारेमि, सम्माणेमि,
कलत्राणं, मगतं,
देवमं, खेदमं,
पग्गुवासांमि,
म'वएण बंदांमि ।

जे मे जीवा विराहिया-
एगिंदिया, वेइंदिया, तेइंदिया
चउरिंदिया, पचिंदिया ।
अमिहया, वसिया, लेसिया,
संपाहया, सपट्टिया, परियाविया,
कितामिया, उइविया,
ठाणाओ ठाण संकामिया,
जोवियाओ ववरोविया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

उत्तरीकरण-धूत (पाँच)

तस्स उत्तरी करणेण,
पामच्छित्त-करणेण,
वितोहि-करणेण,
विमत्तवी-करणेण
पाबाणं बग्गमाण निग्गपाणट्ठाए,
ठामि वाउत्तमं ।

ध्यागार-२५

अन्नस्य ऊयसिणं,
सोयसिणं,
सासिणं, क्षीणं,
अंभाइएरां, उइइएरां,
बादनिहमेण,
अमवीए, नित्तुपाए ।
सुइमेहि अंग-अवातेहि,
सुइमेहि खेव-अंवातेहि ।

एवं मए अभित्युष्मा, विहय-रयमला, पहीण जरमरणा ।
 चउवीमं पि जिणवरा, तित्पयरा मे पसीयतु ॥५॥
 नित्तिप-वंदिय-महिमा, जे ए लोणस्स उत्तमा सिद्धा ।
 भाइग-बोहि-जामं, समाहिवरमुत्तमं दितु ॥६॥
 पदेमु निम्मलयरा, भाइच्चेतु महियं पयासयरा ।
 सागर-वर-गंभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥७॥

सामायिक प्रतिज्ञा-सूत्र (सात)

करेमि भते । सामाहयं,
 सावग्ज जोगं पच्चवत्तामि,
 जाव नियमां सुहृत्तं पग्गुवात्तामि ।
 दुविहं तिबिहेणं
 न करमि, न कारवेमि
 मनसा वयसा कायसा ।
 तस्स भंते ।
 पट्टिक्कामि, निदांमि, गग्गिहामि ।
 पप्पाणं बोधिरामि !

प्रणिपात-सूत्र (आठ)

नमोत्पुण्ण । अट्ठिताणं, भगवन्ताणं ॥१॥
 भाइगराणं, निरत्थराणं, सयं-संहुज्जराणं ॥२॥
 पुरिमुत्तमाण, पुरिस-सोहणं,
 पुरिसवरपुं डरीमाण पुरिगवरमपट्ठलीणं ॥३॥

† किसी सामायिक करण करनी ही उनके मूल "एक मुक्त हो—"
 बोधने चाहिये ।

पञ्चकखाण-सुत्त'

नमोस्कारसहितं-सूत्र (१)

उत्तमए सूरं नमोस्कारसहितं पञ्चकखाणि'
 चउत्तिहं वि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।
 अन्नरत्नमोहेणं, सहवागारेणं, *सोसिगामि ।

पोरिमि-सुत्त' (२)

उत्तमए सूरं पोरिमि पञ्चकखाणि, चउत्तिहं वि आहारं-
 असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नरत्नमोहेणं, सहवागारेणं, पञ्चकखाणि, दिनमोहेणं,
 आहुवेणं, मत्तममाहि वनिवागारेण, बोमिगामि ।

पुरिमिट-गुत्त' (३)

उत्तमए सूरं पुरिमिट पञ्चकखाणि, चउत्तिहं वि आहारं- असणं,
 पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नरत्नमोहेणं, सहवागारेणं, पञ्चकखाणि, दिनमोहेणं,
 आहुवेणं, मत्तममाहि वनिवागारेण, बोमिगामि ।

उत्तम-गुत्त' (४)

उत्तमए सूरं, अन्नरत्नं पञ्चकखाणि, चउत्तिहं वि आहारं-
 असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

इसके दो अर्थों का ब्यख्या हो तो "पञ्चकखाणि" के स्थान पर
 "पञ्चकखाण और + "बोमिगामि" के स्थान पर "वनिवाहि" बहना चाहिए ।

अप्रत्यक्षाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारिमागारेणं, गुरु
मृदुलाणं, महत्तरागारेणं, सद्य समाहिबतिमागारेणं बोधिरामि ।

आपंजिल-मुक्त (७)

आपंजिलं पञ्चक्यामि, अप्रत्यक्षाभोगेणं, सहसागारेणं,
तेजान्वेणं, उक्तिस्त विवेकेणं, गिह-संसङ्गेणं, महत्तरागारेणं, सद्य
समाहिबतिमागारेणं, बोधिरामि ।

अभिगह-मुक्त (८)

अभिगहं पञ्चक्यामि चउविहं पि आहारं, असणं, पाण, खाइमं,
साइमं ।

अप्रत्यक्षाभोगेणं, सहसागारेण, महत्तरागारेण, सद्य समाहिब-
तिमागारेण बोधिरामि ।

विगइय-मुक्त (९)

विगइयो पञ्चक्यामि, अप्रत्यक्षाभोगेण, सहसागारेण, तेजा-
न्वेणं, गिहय-गमिहं, उक्तिस्त विवेकेणं पञ्चक्यामि, महत्तरा-
गारेण, सद्य समाहिबतिमागारेण, बोधिरामि ।

दिवस चम्मि-मुक्त (१०)

दिवस चरिमं पञ्चक्यामि, चउविहं विआहारं-चउणं, पाणं,
आम, साइमं

अप्रत्यक्षाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं सद्य समा-
हिबतिमागारेणं बोधिरामि ।

१ यद् "अणुं, पाण, खाइमं, साइमं, तथा अणुं, खाइमं, साण
विहार" वाड भी है ।

पोसहोववास-सुत

उपए मूरे पडिपुणं ग्यारहवां पोसहध्वमं पच्चवत्तामि
 मणए पाणं साइम साइमं पच्चवत्ताणं,
 मयंम सेवण पच्चवत्ताणं,
 माया वणणमवितेवणपच्चवत्ताणं,
 ममुग मणि-मुवण पच्चवत्ताणं,
 सर-मुसताइ सावज्ज जोगं पच्चवत्ताणं ।
 जाव महोरत्तं पग्गुवातामि
 दुविह तिदिहेण
 न करेमि, न कारवेमि,
 मणसा, वयसा, बायसा
 तस्स भत्ते !
 परिक्कमामि, त्तिदामि, गरिहामि,
 मग्गाणं बोधिरामि ।

पोसहोववास पारण-सुत

गारहवां पोसह वयसस पंच मणारा
 जाणियवसा, न समायरियवसा, तंशहा-त्ते मानोउं
 मणहिलेहि दुवाहिलेहि मेउजा संवारण,
 मणमउज्जए दुवामउज्जए मेउजा संवारण,
 मणहिलेहि दुवाहिलेहि, उप्पार पानदण भूमि,
 मणमउज्जए दुवामउज्जए उप्पार पानदण भूमि,
 पोसहोववासस मग्गं मणायुपानएण,
 सग्गं मिच्छा मि दुक्कटं ।

परिशिष्ट (हिन्दी)

पद्य

श्रावक सज्जाय

उपासक धर्म करो जो मुग्धदाई, स्वर्ग पुरि निश्चे जाइ जो,
संका-बंसा मत कोई धाएँ, वृत्त समवित, सुरदाई जो ॥१॥

उठो सवारे जिन धर्म कीजे, भवर नमोकार गुनी जे जी,
मुक्त मोत्यां साज्याक कीजे, भवर पदिकमणो टाई जो ॥२॥

पद्मदाह बर्मादान निवारो, विषया धकी मन वारोओ,
भोजन बेला साध संभालो, दान, गुणान दोओ जो ॥३॥

षडदाह नेम बितारो जो चितमां, धनरथा दह निवारो जी,
बारावन जो मन में धारो, जग जीवन प्रानि पावो जी ॥४॥

हृति लक्ष्मी को लाओ लोओ, दान में गुदान दीजे जी,
पर बग पड़िमा पत्तावन कीजे, पेर बहु हासन धारोओ ॥५॥

बूढ़, बपट, दूध-मेढ निवारो, गान गुणिगन निवारो जी,
पर्व दिवस आरंभ ने टारो, राख करो धनधारो जी ॥६॥

सहिदा होय तो जाय गिमायो, दीप चौमायो जाय न दीओ जी,
दुर धाएँ धानोदला कीजे पेर बूढ़ हासन धारोओ ॥७॥

साध विद्या, उररेम गुनीजे, दीप दीप दान न कीजे जी,
गुनी गुनी बरला मन धाओजे, निन रेकिडान रग कीजे जी ।

स्वरूप-चितन

छन्द : (हरि गोविता)

मैं कौन हूँ ? ये कौन है ?

निज रूप किस विधि आदरूँ ?

है जन्म म्रन्तक किस वजह से ?

किस तरह इसको हरूँ ॥ १ ॥

करना पड़े यदि कार्य्य फिर से,

कार्य्य ऐसा मैं करूँ ?

जन्मना मरना पड़े नहिं,

पुनः, उस विधी से मरूँ ॥ २ ॥

यह स्वप्न है या सत्य है ?

निश्चय इसे कैसे करूँ,

दुःख बाल्यनिवृत्ति ही है अगर तो,

किस निष्पत्ति से दूरूँ ॥ ३ ॥

यदि जीव मरता है नहीं तो,

किस तरह मे मैं मरूँ ?

होना प्रलय जड़ दग्धु का योग,

ध्यान में लेगा दूरूँ ॥ ४ ॥

मेरी भावना

[५]

जिसने राम द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह ही उपदेश दिया ॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन बहो ।
भक्ति-भाव ने प्रेरित हो, मह पित उसी में लीन रहो ॥१॥

विषयों की घासा नहि चिन्ते, साम्य-भाव धन रखते है ।
निज-परके हित साधन में जो, निमि दिन तत्पर रहते है ॥
स्वार्थ त्याग की बठिन तपस्या, बिना रोद जो भरत है ।
ऐसे जानो माधु जगत के दुग सङ्ग्रह को हरते है ॥२॥

रहे सदा मत्संग उन्ही का, ध्यान उन्ही का नित्य रहे ।
उनही जैसी चर्चा में यह पित सदा धनुरक्त रहे ॥
नही सताऊ किसी जीव को, भूठ बनो नही कहा कर ।
पर धन बनिता पर न सुनाऊ, सतोषामृत पिदा कर ॥३॥

घटवार का भाव न रखू, नही किसी पर शेष कर ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या-भाव धर ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल-राज व्यवहार कर ।
बने कहा सब इस जीवन में, छोरो का उपहार कर ॥४॥

श्रीभाव जगन में मेरा, सब जीवों में मिल्य कर ।
नि-दुःखी जीवों पर मेरे, उर में बरणा योग कर ॥
नि बहू-भुमार्ग रत्नी पर शोभ नही मुझको घाव ।
प्रभाव रगू में उन पर, ऐसी परिणाम हो जावे ॥५॥

जनों को देल हृदय में, मेरे प्रेम उनङ्ग का
कहा सब उनही सेवा करने, यह मन हृदय दावे

बारह भावना

१—अनित्य भावना

राजा राणा छत्र पति, हाथिन के भगवार ।
मरनी सबको एक दिन, अपनी मरनी बार ॥

२—अशरण भावना

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार ।
मरती बिरिया जीवको, कोई न राखन हार ॥

३—संसार भावना

दाम बिना निर्धन दुखी, मृष्टा बग धनधान ।
बड़े न मुख संसार में, सब जय देखी ध्यान ॥

४—एकत्व भावना

प्राप भवेता भवतरे, मर्या भवेता होय ।
त बिरिया जीव बी, सादी सगो न बीय ॥

५—अव्यय भावना

हा देह अपनी नहीं, तही न अपना बीय ।
त मर्ति पर प्रबट मे, पर है परिजन सोय ॥

६—अशुचि भावना

जाम खादर मरी, हाड पीजरा देह ।
र दा मम जगन मे घोर नहीं रिज-जे ॥

छठ्ठीस बोल

- (१) उल्लासिया विधि—शरीर पोछने का वस्त्र—तौलिया, मंगोछा आदि का परिमाण ।
- (२) दातुन विधि—दात-धावन के लिये दतीन (बूतन आदि) की मर्यादा ।
- (३) फल विधि—आम्र, कदली, संतरा आदि फलों का परिमाण ।
- (४) अभ्यंगन विधि—तैल-मर्दन के लिये अमुक तैल प्रयोग में होगा ऐसी मर्यादा ।
- (५) उबटन विधि—घाटे, मैदे आदि की पीठी जिससे शरीर फाँटा जाता है उसके प्रकार का परिमाण ।
- (६) मज्जन विधि—स्नान के लिये जल का परिमाण या उगके पानी की मात्रा का परिमाण ।
- (७) वस्त्र विधि—शूली, ऊनी, रेशमी अमुक वस्त्र अमुक मर्यादा प्रयोग में लाऊँगा का परिमाण ।
- (८) बिलेपन विधि—अर्धन आदि मुगधित द्रव्यों का शरीर पर सेप का परिमाण ।
- (९) पुष्ट विधि—अमुक मात्रा के गुताह आदि पुत्रों का परिमाण ।
- (१०) धानरता विधि—हार, मंगोछी आदि अमुक धानरता हो पहनूँगा—ऐसा परिमाण ।

~~CONFIDENTIAL~~

1

2

3

4

5

6

(२३) उपानत विधि—पगरखी-चप्पल, बूँट, सलीपर आदि हिस्सों तथा चमड़ा, कपड़ा, रबड़ आदि के प्रकार और संख्या परिमाण ।

(२४) वाहन विधि—सवारी यात्रा के लिये जीव सवारी, निर्जीव परिमाण ।

(२५) सवित्त विधि—सजीव पदार्थों के उपभोग (नारी, पुष्प, दामो, पशु आदि) का परिमाण ।

(२६) द्रव्य विधि—उपयुक्त समस्त वस्तुओं की सख्या से भाण ।

[अर्था. १ घ,

• •

पक्ष में सर्व प्रकार की हिंसा, असत्य, चोरी, अश्रद्धा, परिग्रह (ममता सामंता) का सर्व प्रकार से (तीन करण, तीन योग) प्रत्याख्यान करता है। शोध आदि १८ अक्षरणीय (पापों) का जीवन भर के लिए पञ्चव्रत्ताण करता है। सर्व प्रकार का भजन, पान, खादिम, स्वादिम चार प्रकार के आहार का भी त्याग करता है तथा यह शरीर जो मुझे दृष्ट, शान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम, धैर्य, विद्वन्मनोय, समय, अनुमत, बहुमत, भण्डकरण्डक (पात्र-पेट), रत्न-करण्डक (रत्न-मंजूषा) समान एवं मीन, उष्ण, शुष्क-पिपासा, चौर, डाँस-मच्छर, वान-पित्त-वफ, मयंकुर मन्त्रिणात् आदि विविध रोग आतंक आदि परीपह (बटिनार्द) उपमर्गों (कष्ट) का स्वर्ण होगा जो कि हमारे प्रतिकूल है तो भी मैं पीडित नहीं हूँगा और मैं इसे खरम (अन्तिम) दवागोच्छ्वास में त्याग करूँगा ही किन्तु अभी मैं ही मैं इसका त्याग (इस पर जो ममता है) करता हूँ।”

इस प्रकार अनुष्ठान करने गम भाव, समाधि पूर्व मृत्यु वेला तक आत्म-चिन्तन में मीन रहना मरणानुष्ठान है।

इस अनुष्ठान के पाँच अधिधार (दोष) हैं जिनका परिहार करने हुए इस अनुष्ठान का आचरण करना चाहिए—

(१) इहलोका-धारांगता प्रयोग—इह=वर्तमान मानी मनुष्य-लोक विषयक धारांगता—इच्छा कि मैं जगन्नाथ में मही राधा, मन्वी, धोष्टी आदि रूप में उत्तर हो जाऊँ, करना।

(२) परलोक-धारांगता प्रयोग—पर=दूरस्थ-देश में अवस्थित आदि लोक विषयक “कि मैं जगन्नाथ में इन्द्र, देव आदि हूँ” इच्छा करना।

(३) जीवित-धारांगता प्रयोग—जीवित रहने की इच्छा करना जो कि “यह परिहार और लोक में प्रसंगा है अतः अविन जीवित हूँ” यह जीवित प्रसंगा प्रयोग है।

सामादय-मुत्तं]

सामादयस्स अणुवट्ठियस्स करणया,
 सामादयस्स राइ भवरणया,
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।
 सामादयं सम्मं काएण....
 न फासियं, न पातियं
 न सीरियं, न विट्ठियं
 न सांहियं, न पाराहियं,
 आण्णए अणुपातियं न भयइ
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।